

# सर्वसिद्धान्तप्रवेशकः (हिन्दी अनुवादसह)

मूलग्रन्थ सम्पादक एवं प्राक्कथन लेखक  
पूज्यपाद-गुरुदेव-मुनिराज श्री भुवनविजयान्तेवासी  
मुनि जम्बूविजय जी

हिन्दी अनुवाद  
पूज्या साध्वी रुचिदर्शनाश्रीजी

अनुवाद-सम्पादक, मार्गदर्शक एवं भूमिका  
प्रो० सागरमल जैन

प्राच्यविद्यापीठ, शाजापुर  
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

# सर्वसिद्धान्तप्रवेशकः (हिन्दी अनुवादसह)

मूलग्रन्थ सम्पादक एवं प्राक्कथन लेखक  
पूज्यपाद-गुरुदेव-मुनिराज श्री भुवनविजयान्तेवासी  
मुनि जम्बूविजय जी

हिन्दी अनुवाद  
पूज्या साध्वी रुचिदर्शनाश्रीजी  
अनुवाद-सम्पादक, मार्गदर्शक एवं भूमिका  
प्रो. सागरमल जैन

प्राच्यविद्यापीठ, शाजापुर  
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

**प्रकाशक :**

प्राच्यविद्यापीठ, शाजापुर  
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

❖

**पुस्तक :** सर्वसिद्धान्तप्रवेशकः

❖

**सम्पादन :** पूज्यपाद-गुरुदेव-मुनिराजश्रीभुवनविजयान्तेवासी  
मुनि जम्बूविजय जी

❖

**प्रथम आवृत्ति :** २०६५ ईस्वी सन् २००८  
११०० प्रतियाँ

❖

**मूल्य :** ३० रुपये

❖

**अक्षरांकन :** विमल चन्द्र मिश्र, डी. ५३/९७, ए-८ पार्वतीपुरी, वाराणसी।

❖

**मुद्रण :**

महावीर प्रेस, जवाहर नगर,  
वाराणसी-१०

## प्रकाशकीय

जैन एवं जैनेतर दोनों परम्पराओं में दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों के प्रणयन की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। जैनेतर वैदिक परम्परा में 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह', 'सर्वदर्शनसंग्रह' 'सर्वदर्शनकौमुदी' 'प्रस्थान-भेद' आदि ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं जिनमें तत्कालीन दार्शनिक प्रवृत्तियों, सम्प्रदायों एवं उनके सिद्धान्तों का सम्यक् विवेचन हुआ है। जैन परम्परा के 'विवेक विलास', षड्दर्शन-निर्णय के अतिरिक्त आचार्य हरिभद्र कृत षड्दर्शनसमुच्चय इसी कड़ी का एक विशिष्ट ग्रन्थ है जिसमें भारतीय दर्शन के सभी प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्तों का निष्पक्ष प्रस्तुतीकरण हुआ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ सर्वसिद्धान्तप्रवेशक किसी जैन आचार्य द्वारा प्रणीत हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय जैसी प्रतिपादन शैली वाला एक विशिष्ट ग्रंथ है जिसमें न्याय, वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध, जैन, मीमांसा और लोकायत दर्शन की प्रमाणों के आधार पर समीक्षा की गयी है। इसका सम्पादन मुनिप्रवर श्री जम्बूविजयजी एवं हिन्दी अनुवाद परम.पूज्य साध्वी रुचिदर्शनाश्री जी ने किया है।

हम आभारी हैं डॉ. सागरमल जैन के जिन्होंने न केवल यह ग्रंथ प्रकाशन हेतु विद्यापीठ को दिया, अपितु इसकी विद्वतापूर्ण 'भूमिका' भी लिखी। ग्रंथ के प्रकाशन में प्रूफ रीडिंग से लेकर प्रेस तक के सभी कार्यों का सम्पादन डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय, सहनिदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने किया है, एतदर्थ हम उनके प्रति धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

सुन्दर अक्षर सज्जा हेतु श्री विमल चन्द्र मिश्र तथा सत्वर मुद्रण हेतु 'वर्द्धमान मुद्रणालय' सर्वथा बधाई के पात्र हैं।

१८ अप्रैल, ०८

महावीर जयन्ती

इन्द्रभूति बरड

संयुक्त सचिव

पार्श्वनाथ विद्यापीठ

## प्राक्कथन

विद्वत् पाठक जन, सर्वसिद्धान्त अर्थात् सभी (भारतीय) दर्शनों को बताने वाला सर्वसिद्धान्त प्रवेशक नामक यह ग्रन्थ आपके सामने प्रस्तुत है। जैसलमेर ग्रन्थालय में विद्यमान ताड़पत्र पर लिखित इस ग्रन्थ की दो प्रतियों के आधार पर यह ग्रन्थ सम्पादित हुआ है। इन प्रतियों में कर्ता का नाम अज्ञात है, क्योंकि ताड़पत्र पर लिखी गई इन प्रतियों में ग्रन्थकार ने अपने नाम का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया है, फिर भी प्रारम्भिक पद के अनुसार जैन मुनि ही इस ग्रन्थ के रचियता हैं, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ की पूर्ण समीक्षा करने पर ग्रन्थकार का काल आचार्य हरिभद्र के पश्चात् अर्थात् विक्रम की आठवीं शती के पश्चात् और बारहवीं शताब्दी के पूर्व माना सकता है। इस ग्रन्थ में उस काल के प्रधान एवं प्रसिद्ध दर्शनों यथा – न्याय, वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध, जैन, मीमांसा और लोकायत का उन-उन दर्शनों के प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार वर्णन किया गया है। यद्यपि दर्शनों का वर्णन संक्षिप्त है, फिर भी जिज्ञासुओं के लिए बहुत उपयोगी है।

भारत एक धर्मप्रधान देश है, इसलिये चार्वाक जैसे नास्तिक दर्शन को छोड़कर सभी भारतीय दर्शनों का लक्ष्य सदैव सत्य का साक्षात्कार या मोक्ष की प्राप्ति रहा है। इसी कारण भारतीय तत्त्वज्ञान की अवधारणाओं को विवाद या तर्क का विषय न मानकर अनुभूति का विषय माना गया है और इसके लिए दर्शन (साक्षात्कार) जैसे उच्च कोटि के यथार्थ अनुभव प्रधान शब्द का प्रयोग किया गया है। दर्शन शब्द का अर्थ साक्षात्कार है। अतः जो सत्य का साक्षात्कार या आत्मा का साक्षात्कार करता है या मोक्ष के मार्ग को बताता है, उसी का नाम दर्शन है। इसके अतिरिक्त चर्चा मात्र वाणी का विलास है या विद्वानों के मनोरंजन का साधन है। भारतीय तत्त्व ज्ञान का ऐसा आध्यात्मिक दृष्टिकोण होने के कारण ही इस देश में "सा विद्या या विमुक्तये" अर्थात् विद्या वही है, जो मुक्ति का हेतु है तथा "ज्ञानस्य फलं विरतिः" अर्थात् ज्ञान का फल पाप से निवृत्त होना है, इत्यादि, सूत्र व्यापक प्रचार में आये हैं।

आत्म साक्षात्कार राग-द्वेष-मोह से रहित समदृष्टि के बिना नहीं हो सकता है। समदृष्टि से अवलोकन करने वाले ज्ञानी पुरुष को वस्तु के जो जो स्वरूप दिखाई देते हैं, उन सभी स्वरूपों को ग्रहण करता है। एक ही स्वरूप का ऐकान्तिक आग्रह कभी नहीं करता है।

दर्शन शास्त्र जो आत्मा के साक्षात्कार का साधन रहा है वह ऐकान्तिक दृष्टिकोण या आग्रह बुद्धि के कारण द्वेष को बढ़ाने का साधन बन गया है। दूसरों के दृष्टिकोण में रहे हुए सत्यांश को स्वीकार करने की विवेकबुद्धि यदि मनुष्य में आ जाए तो विवाद का कोई स्थान ही न रहे। एकांत का आग्रह छोड़कर अनेकान्तदृष्टि अपनाये बिना विवेक बुद्धि भी विकसित नहीं हो सकती है। अनेकांत दो शब्दों से मिलकर बना है - अनेक + अन्त। यहाँ अन्त शब्द का अर्थ है 'धर्म' अर्थात् वस्तु में अनेक धर्म हैं। वस्तु में एक ही धर्म (गुण) का आग्रह रखना मिथ्यात्व है।

यदि कोई यह प्रश्न करे कि, एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मों का समावेश किस प्रकार हो सकता है ? इसके उत्तर में बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति का यह वाक्य प्रासंगिक होगा कि -  
 "यदीदं स्वयमर्थानां रोचते के वयम् ।।" (प्रमाणवार्तिक 2/210)  
 यदि पदार्थ को ही अनेक धर्मात्मक होना पसंद है, तो इसमें हम क्या कर सकते हैं।

एक ही वस्तु में विरोधी गुण रहे हुए हैं, जैसे एक व्यक्ति किसी की अपेक्षा से पुत्र है तो किसी की अपेक्षा से पिता भी है। वस्तु उत्पाद-व्यय-धौव्यता के गुणों से युक्त होने से भी नित्यानित्य है। जैसे मिट्टी पिंड के रूप से नाश होकर घड़े के रूप में उत्पन्न होती है, तथापि उसकी मिट्टी रूपता तो कायम ही रहती है। इस प्रकार अपेक्षा भेद से एक ही वस्तु में उत्पत्ति, विनाश एवं स्थिरता घटित होती है। इसको स्वीकार करने में बाधा जैसा क्या है ? जो यह बात स्वीकार करली जाये, तो वस्तु को सर्वथा अविनाशी मानने वाले वेदान्ती एवं सर्वथा विनाशी या क्षणिक मानने वाले बौद्धों का झगड़ा अपने आप समाप्त हो सकता है। इस प्रकार वस्तु भाव-अभाव, नित्य-अनित्य, सत्त्व-असत्त्व, सामान्यात्मकत्व- विशेषात्मकत्व से युक्त है जो इस दृष्टि से वस्तु का विचार किया जाये तो दर्शनशास्त्रों के अनेक विवाद अपने आप ही समाप्त हो सकते हैं। इस अनेकान्तदृष्टि से सारे मिथ्याभिनिवेशों का शमन हो जाता है। यही अनेकान्त का सिद्धान्त जैन दर्शन का आधार है।

संसार दुख से भरा हुआ है, दुख का कारण, दुख से छुटकारा पाने का उपाय, मोक्ष और मोक्ष के उपायभूत मोक्षमार्ग का निश्चित ज्ञान नितांत आवश्यक है। साधक को चाहिये कि, जगत में चल रहे मुक्ति

संबंधी अनेक मान्यताओं का, उसके विविध मार्गों का निष्पक्ष भाव से या समदृष्टिपूर्वक अध्ययन करके युक्त लगने वाले मार्ग पर स्वयं की आस्था को केन्द्रित करे। मोक्ष के उपायों की चर्चा के संबंध में भी सभी शास्त्र एक मत नहीं है। सभी के अध्ययन के लिए बहुत समय और परिश्रम की आवश्यकता होती है।

दर्शनशास्त्रों का अध्ययन बहुत सुगम एवं अल्पसमयसाध्य बन सके इस अपेक्षा से कई ग्रन्थों की रचना की गई है। जिनमें भिन्न-भिन्न मुख्य दार्शनिक विचारों का संग्रह किया गया है। इसमें सबसे पुरानी रचना पूज्य सिद्धसेनदिवाकरजी की बत्तीस द्वात्रिंशिकाएँ हैं, जिनमें से बाईस आज भी उपलब्ध हैं। किंतु ये बहुत ही कठिन एवं गूढार्थ वाली है। इसके पश्चात् आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा रचित षड्दर्शनसमुच्चय नाम का ग्रन्थ बहुत ही सुन्दर और उत्तमकोटि का है। जिससे विभिन्न दर्शनों का ज्ञान सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। वर्तमान समय में भी कितने ही विश्वविद्यालयों में दर्शनशास्त्र की एम. ए. की परीक्षा में इस ग्रन्थ का अध्ययन आवश्यक है। इस आधार पर इसकी लोकप्रियता और उपयोगिता को जाना जा सकता है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन बंगाल की रॉयल एशियाटिक सोसायटी की तरफ से हुआ है।

आचार्य हरिभद्र की पद्धति के अनुसार सर्वसिद्धान्तसंग्रह की तथा माधवाचार्य के सर्वदर्शनसंग्रह आदि की रचना हुई है। माधवाचार्य के ग्रन्थ में एक कमी यह है कि, उनमें स्वयं को अनभिष्ट चार्वाकदर्शन को सबसे पहले रखा, फिर उसके पश्चात् उसके खंडन के रूप बौद्ध दर्शन को रखा, फिर बौद्ध दर्शन के खण्डन के रूप जैन दर्शन को रखा, उसके पश्चात् जैन दर्शन के खण्डन के रूप में रामानुजदर्शन को रखा, इस प्रकार दर्शनों को उत्तरोत्तर क्रम में रखकर अंत में स्वयं को मान्य शांकरदर्शन को सर्वश्रेष्ठ दर्शन के रूप में रखा। अपने दर्शन को सत्य और अन्य को असत्य करार दिया। यह दृष्टिकोण भिन्न दर्शनों के अनुयायियों को अरुचिकर प्रतीत हुआ। जबकि षड्दर्शनसमुच्चय ग्रन्थ में किसी भी दर्शन को सत्य-असत्य नहीं बताया गया है। केवल माध्यस्थ भाव से दर्शनों को प्रस्तुत किया गया है। इसमें उनकी सत्यता या असत्यता के लिए स्वयं निर्णय करने का अवकाश है। इसी कारण सभी दर्शनों के अनुयायियों को इसका अध्ययन प्रिय लगता है। यह

सर्वसिद्धान्त प्रवेशक ग्रन्थ भी ऐसा ही है। इसमें भी माध्यस्थ भाव से सभी भारतीय दर्शनों की मान्यताओं को प्रस्तुत किया गया है।

मुख्य—मुख्य सभी दर्शनों के सिद्धान्तों का निरूपण करने वाला 'सर्वसिद्धान्त प्रवेशक' नामक यह ग्रन्थ भी अद्यावधि स्वतन्त्र रूप से अप्रकाशित था। इसमें नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, जैन, बौद्ध, मीमांसक तथा चार्वाक—इस प्रकार सात दर्शनों का निरूपण किया गया है। हरिभद्र का षड्दर्शनसमुच्चय नामक ग्रन्थ पद्यात्मक है, जबकि यह ग्रन्थ गद्यात्मक है। सर्वसिद्धान्त प्रवेशक की रचनाशैली अतिविस्तृत न होते हुए भी अतिसंक्षिप्त भी नहीं है। भाषा और प्रतिपादन शैली अत्यन्त मनोहर होने से विभिन्न दर्शनों के ज्ञान की प्राप्ति का यह उत्तम ग्रन्थ है। इसी कारण इस ग्रन्थ के सम्पादन का उपक्रम किया गया है।

इस ग्रन्थ को खोज निकालने का यश आगम प्रभाकर पू. मुनिराज श्री पुण्यविजय जी को प्राप्त होता है। उन्होंने अपना पूरा जीवन प्राचीन साहित्य की खोज में ही अर्पण किया था। जैन समाज उनके पुण्यकार्य से अच्छी तरह परिचित है। जैसलमेर की 'ए' तथा 'बी' प्रति के आधार पर पाठांतर खोजकर सर्वसिद्धान्तप्रवेशक ग्रन्थ की आपके स्वयं के द्वारा तैयार की गई प्रतिलिपि पूज्य पुण्यविजय जी महाराज ने मुझे स्वयं भेजी थी। जिसके आधार पर यह सम्पादन का कार्य हुआ है।

पूज्यपाद गुरुदेव श्री 1008 भुवनविजय जी महाराज की यह इच्छा एवं प्रेरणा थी कि, प्रस्तुत ग्रन्थ इस विषय के अध्येताओं को अतिउपयोगी हो सकता है, अतः इसे स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित करना चाहिये।

पूज्य गुरुदेव की इच्छा के अनुसार यह उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है, यह मेरे लिए आनन्द का विषय है। यह ग्रन्थ अध्येताओं को भिन्न—भिन्न दर्शनों के मुख्य सिद्धान्तों का ज्ञान देने के साथ—साथ पूर्ण समभाव की तरफ लेजाने वाली अनेकान्तदृष्टि को प्राप्त कराने वाला हो, यही मेरी शुभेच्छा है।

—मुनि जम्बूविजय



# भूमिका

## दर्शनसंग्राहक ग्रन्थों की जैन परम्परा

यदि हम भारतीय दर्शन के समग्र इतिहास में सभी प्रमुख दर्शनों के सिद्धान्त को एक ही ग्रन्थ में पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करने के क्षेत्र में हुए प्रयत्नों को देखते हैं, तो हमारी दृष्टि में हरिभद्र ही वे प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने सभी प्रमुख भारतीय दर्शनों की मान्यताओं को निष्पक्ष रूप से एक ही ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। हरिभद्र के षड्दर्शन-समुच्चय की कोटि का और उससे प्राचीन दर्शनसंग्राहक कोई अन्य ग्रन्थ हमें प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध नहीं होता।

हरिभद्र के पूर्व तक जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओं के किसी भी आचार्य ने अपने काल के सभी दर्शनों का निष्पक्ष परिचय देने की दृष्टि से किसी भी ग्रंथ की रचना नहीं की थी। उनके ग्रन्थों में अपने विरोधी मतों का प्रस्तुतीकरण मात्र उनके खण्डन की दृष्टि से ही हुआ है। जैन परम्परा में भी हरिभद्र के पूर्व सिद्धसेन दिवाकर और समन्तभद्र ने अन्य दर्शनों के विवरण तो प्रस्तुत किये हैं, किन्तु उनकी दृष्टि भी खण्डनपरक ही है। विविध दर्शनों का विवरण प्रस्तुत करने की दृष्टि से मल्लवादी का नयचक्र महत्वपूर्ण ग्रन्थ कहा जा सकता है, किन्तु उसका मुख्य उद्देश्य भी प्रत्येक दर्शन की अपूर्णता को सूचित करते हुए अनेकान्तवाद की स्थापना करना है। पं. दलसुखभाई मालवणिया के शब्दों में (नय) चक्र की कल्पना के पीछे आचार्य का आशय यह है कि कोई भी मत अपने आप में पूर्ण नहीं है। जिस प्रकार उस मत की स्थापना दलीलों से हो सकती है उसी प्रकार उसका उत्थापन भी विरोधी मतों की दलीलों से हो सकता है। स्थापना और उत्थापन का यह चक्र चलता रहता है। अतएव अनेकान्तवाद में ये मत यदि अपना उचित स्थान प्राप्त करें, तभी उचित है अन्यथा नहीं।<sup>१</sup> नयचक्र की मूलदृष्टि भी स्वपक्ष अर्थात् अनेकान्तवाद के मण्डन और परपक्ष के खण्डन की ही है। इस प्रकार जैन परम्परा में भी

१. षड्दर्शनसमुच्चय—सं. डॉ. महेन्द्रकुमार, प्रस्तावना पृ. १४।

हरिभद्र के पूर्व तक निष्पक्ष भाव से कोई भी दर्शन-संग्राहक ग्रन्थ नहीं लिखा गया।

जैनेतर परम्पराओं के दर्शनसंग्राहक ग्रन्थों में आचार्य शंकर विरचित माने जाने वाले **'सर्वसिद्धान्तसंग्रह'** का उल्लेख किया जा सकता है। यद्यपि यह कृति माधवाचार्य के **सर्वदर्शनसंग्रह** की अपेक्षा प्राचीन है, फिर भी इसके आद्य शंकराचार्य द्वारा विरचित होने में संदेह है। इस ग्रन्थ में भी पूर्वदर्शन का उत्तरदर्शन के द्वारा निराकरण करते हुए अन्त में अद्वैत वेदान्त की स्थापना की गयी है। अतः किसी सीमा तक इसकी शैली को **नयचक्र** की शैली के साथ जोड़ा जा सकता है किन्तु जहाँ **नयचक्र**, अन्तिम मत का भी प्रथम मत से खण्डन करवाकर किसी भी एक दर्शन को अन्तिम सत्य नहीं मानता है, वहाँ **'सर्वसिद्धान्तसंग्रह'** वेदान्त को एकमात्र और अन्तिम सत्य स्वीकार करता है। अतः यह एक दर्शन-संग्राहक ग्रन्थ होकर भी निष्पक्ष दृष्टि का प्रतिपादक नहीं माना जा सकता है। हरिभद्र के **षड्दर्शनसमुच्चय** की जो विशेषता है वह इसमें नहीं है।

जैनेतर परम्पराओं में दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में दूसरा स्थान माधवाचार्य (ई. १३५०) के **'सर्वदर्शनसंग्रह'** का आता है। किन्तु **'सर्वदर्शनसंग्रह'** की मूलभूत दृष्टि भी यही है कि वेदान्त ही एकमात्र सम्यग्दर्शन है। **सर्वसिद्धान्तसंग्रह** और **सर्वदर्शनसंग्रह'** दोनों की हरिभद्र के षड्दर्शन-समुच्चय से इस अर्थ में भिन्नता है कि जहाँ हरिभद्र बिना किसी खण्डन-मण्डन के निरपेक्ष भाव से तत्कालीन विविध दर्शनों को प्रस्तुत करते हैं, वहाँ वैदिक परम्परा के इन दोनों ग्रन्थों की मूलभूत शैली खण्डनपरक ही है। अतः इन दोनों ग्रन्थों में अन्य दार्शनिक मतों के प्रस्तुतीकरण में वह निष्पक्षता और उदारता परिलक्षित नहीं होती है, जो हरिभद्र के **षड्दर्शनसमुच्चय** में है।

वैदिक परम्परा में दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में तीसरा स्थान माधव-सरस्वतीकृत **'सर्वदर्शनकौमुदी'** का आता है। इस ग्रन्थ में दर्शनों को वैदिक और अवैदिक—ऐसे दो भागों में बाँटा गया है। अवैदिक दर्शनों में चार्वाक, बौद्ध और जैन ऐसे तीन भेद तथा वैदिक दर्शन में तर्क, तन्त्र और सांख्य—ऐसे तीन भाग किये गये हैं। इस ग्रन्थ की शैली भी मुख्यरूप से खण्डनात्मक ही है। अतः हरिभद्र के **षड्दर्शनसमुच्चय** जैसी उदारता और निष्पक्षता इसमें भी परिलक्षित नहीं होती है।

वैदिक परम्परा के दर्शनसंग्राहक ग्रन्थों में चौथा स्थान मधुसूदन सरस्वती के 'प्रस्थान-भेद' का आता है। मधुसूदन सरस्वती ने दर्शनों का वर्गीकरण आस्तिक और नास्तिक के रूप में किया है। नास्तिक-अवैदिक दर्शनों में वे छह प्रस्थानों का उल्लेख करते हैं। इसमें बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदाय तथा चार्वाक और जैनों का समावेश हुआ है। आस्तिक-वैदिक-दर्शनों में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा का समावेश हुआ है। उन्होंने पाशुपत-दर्शन एवं वैष्णवदर्शन का भी उल्लेख किया है। पं. दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार प्रस्थानभेद के लेखक की एक विशेषता अवश्य है जो उसे पूर्व उल्लिखित वैदिक परम्परा के अन्य दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों से अलग करती है वह यह कि इस ग्रन्थ में वैदिक दर्शनों के पारस्परिक विरोध का समाधान यह कह कर किया गया है कि इन प्रस्थानों के प्रस्तोता सभी मुनि भ्रान्त तो नहीं हो सकते, क्योंकि वे सर्वज्ञ थे। चूँकि बाह्य विषयों में लगे हुए मनुष्यों का परम पुरुषार्थ में प्रविष्ट होना कठिन होता है, अतएव नास्तिकों का निराकरण करने के लिए इन मुनियों ने दर्शन प्रस्थानों के भेद किये हैं।<sup>१</sup> इस प्रकार प्रस्थान भेद में यत्किंचित् उदारता का परिचय प्राप्त होता है। किन्तु यह उदारता केवल वैदिक परम्परा के आस्तिक दर्शनों के सन्दर्भ में ही है, नास्तिकों का निराकरण करना तो सर्वदर्शन कौमुदीकार को भी इष्ट ही है। इस प्रकार दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में हरिभद्र की जो निष्पक्ष और उदार दृष्टि है वह हमें अन्य परम्पराओं में रचित दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में नहीं मिलती है। यद्यपि वर्तमान में भारतीय दार्शनिक परम्पराओं का विवरण प्रस्तुत करने वाले अनेक ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं किन्तु उनमें भी लेखक कहीं न कहीं अपने इष्ट दर्शन और विशेषरूप से वेदान्त को ही अन्तिम सत्य के रूप में प्रस्तुत करता प्रतीत होता है।

हरिभद्र के पश्चात् जैन परम्परा में लिखे गये दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में अज्ञातकर्तृ '**सर्वसिद्धान्तप्रवेशक**' का स्थान आता है। किन्तु इतना निश्चित है कि यह ग्रन्थ किसी जैन आचार्य द्वारा प्रणीत है क्योंकि इसके मंगलाचरण में— "सर्वभाव प्रणेतांरं प्रणिपत्य जिनेश्वरं" ऐसा उल्लेख है। पं. सुखलाल संघवी के अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रतिपादन शैली हरिभद्र के **षड्दर्शनसमुच्चय** का ही अनुसरण करती है।<sup>२</sup> अन्तर मात्र यह है कि जहाँ हरिभद्र का ग्रन्थ पद्य में है

१. षड्दर्शनसमुच्चय—सं. डॉ. महेन्द्रकुमार, प्रस्तावना पृ. १९।

२. समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ. ४३।

वहाँ **सर्वसिद्धान्तप्रवेशक** गद्य में है। साथ ही यह ग्रन्थ हरिभद्र के **षड्दर्शनसमुच्चय** की अपेक्षा कुछ विस्तृत भी है।

जैन परम्परा के दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में दूसरा स्थान जीवदेवसूरि के शिष्य आचार्य जिनदत्तसूरि (विक्रम सं. १२६५) के **विवेकविलास** का आता है। इस ग्रन्थ के अष्टम उल्लास में **षड्दर्शनविचार** नामक प्रकरण है। जिसमें जैन, मीमांसक, बौद्ध, सांख्य, शैव और नास्तिक इन छह दर्शनों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। पं. दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि इसमें न्याय वैशेषिकों का समावेश शैवदर्शन में किया गया है। मेरी दृष्टि में इसका कारण लेखक के द्वारा हरिभद्र के **षड्दर्शनसमुच्चय** का अनुसरण करना ही है, क्योंकि उसमें भी न्यायदर्शन के देवता के रूप में शिव का ही उल्लेख किया है—

‘अक्षपादमते देवः सृष्टिसंहारकृच्छिव’-१३

यह ग्रन्थ भी हरिभद्र के **षड्दर्शनसमुच्चय** के समान केवल परिचयात्मक और निष्पक्ष विवरण प्रस्तुत करता है और आकार में मात्र ६६ श्लोक प्रमाण है।

जैन परम्परा में दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में तीसरा क्रम राजशेखर (विक्रम सं. १४०५) के **षड्दर्शनसमुच्चय** का आता है। इस ग्रन्थ में जैन, सांख्य, जैमिनीय, योग, वैशेषिक और सौगत (बौद्ध) इन छह दर्शनों का भी उल्लेख किया गया है। हरिभद्र के समान ही इस ग्रन्थ में भी इन सभी को आस्तिक कहा गया है और अन्त में नास्तिक के रूप में चार्वाक दर्शन का परिचय दिया गया है। हरिभद्र के **षड्दर्शनसमुच्चय** और राजशेखर के **षड्दर्शनसमुच्चय** में एक मुख्य अन्तर इस बात को लेकर है कि दर्शनों के प्रस्तुतीकरण में जहाँ हरिभद्र जैनदर्शन को चौथा स्थान देते हैं वहाँ राजशेखर जैनदर्शन को प्रथम स्थान देते हैं। पं. सुखलाल संघवी के अनुसार सम्भवतः इसका कारण यह हो सकता है कि राजशेखर अपने समकालीन दार्शनिकों के अभिनिवेशयुक्त प्रभाव से अपने को दूर नहीं रख सके<sup>१</sup>।

पं. दलसुखभाई मालवणिया की सूचना के अनुसार राजशेखर के काल का ही एक अन्य दर्शन संग्राहक ग्रन्थ आचार्य मेरुतुंगकृत **षड्दर्शन-निर्णय** है<sup>२</sup>। इस ग्रन्थ में मेरुतुंग ने बौद्ध, मीमांसा, सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक इन छह दर्शनों की मीमांसा की है किन्तु इस कृति में हरिभद्र जैसी उदारता नहीं है।

१. समदर्शी आचार्य हरिभद्र पृ. ४७।

२. षड्दर्शनसमुच्चय—सं. पं. महेन्द्रकुमार, प्रस्तावना, पृ. १९।

यह मुख्यतया जैनमत की स्थापना और अन्य मतों के खण्डन के लिए लिखा गया है। एक मात्र इसकी विशेषता यह है कि इसमें महाभारत, स्मृति, पुराण आदि के आधार पर जैनमत का समर्थन किया गया है।

पं. दलसुखभाई मालवणिया ने षड्दर्शनसमुच्चय की प्रस्तावना में इस बात का भी उल्लेख किया है कि सोमतिलकसूरिकृत षड्दर्शनसमुच्चय की वृत्ति के अन्त में अज्ञातकर्तृ एक कृति मुद्रित है।<sup>१</sup> इसमें भी जैन, नैयायिक, बौद्ध वैशेषिक, जैमिनीय, सांख्य और चार्वाक— ऐसे सात दर्शनों का संक्षेप में परिचय दिया गया है किन्तु अन्त में अन्य दर्शनों को दुर्नय की कोटि में रखकर जैनदर्शन को उच्च श्रेणी में रखा गया है। इस प्रकार इसका लेखक भी अपने को साम्प्रदायिक अभिनिवेश से दूर नहीं रख सका।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों की रचना में भारतीय इतिहास में हरिभद्र ही एक मात्र ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने निष्पक्ष भाव से और पूरी प्रामाणिकता के साथ अपने ग्रन्थ में अन्य दर्शनों का विवरण दिया है। इस क्षेत्र में वे अभी तक अद्वितीय हैं।




---

१. षड्दर्शनसमुच्चय—सं. डॉ. महेन्द्रकुमार, प्रस्तावना पृ. २०।

सर्वसिद्धान्तप्रवेशकस्य  
विषयानुक्रमः

विषयः	पृष्ठक्रमाङ्कः
नैयायिकदर्शनम्	२
वैशेषिकदर्शनम्	५
जैनदर्शनम्	१२
साङ्ख्यदर्शनम्	१३
बौद्धदर्शनम्	१७
मीमांसकदर्शनम्	१८
लोकायतिकमतम्	२०

चिरन्तनजैनमुनीश्वरप्रणीतः  
सर्वसिद्धान्तप्रवेशकः

॥ नमः सर्वज्ञाय ॥

सर्वभावप्रणेतारं प्रणिपत्य जिनेश्वरम् ।  
वक्ष्ये सर्ववि( नि )गमेषु यदिष्टं तत्त्वलक्षणम् ॥१॥  
सर्वदर्शनेषु प्रमाण-प्रमेयसमुच्चयप्रदर्शनायेदमुपदिश्यते ।

टिप्पणानि

श्रीशङ्खेश्वरपाश्र्वं सद्गुरुदेवांश्च भुवनविजयाख्यान् ।

प्रणिपत्य परमभक्त्या टिप्पणमिह तन्यते किञ्चित् ॥

सर्वदर्शनसिद्धान्तेषु सम्यक् प्रवेशकतया यथार्थाभिधस्य चिरन्तनेन केनचिज्जैनमुनिप्रवरेण रचितस्यास्य सर्वसिद्धान्तप्रवेशकग्रन्थस्य तालपत्रेषु लिखितं यत् प्रतिद्वयं जेसलमेरनगरे जैनज्ञानभाण्डागारे विद्यते तदवलम्ब्य सम्पादितोऽयं ग्रन्थः । तत्रैका प्रतिर्विक्रमसंवत् १२०१ वर्षे लिखिता “१ $\frac{1}{3}$  x १ $\frac{1}{3}$ ” ‘इंच’ प्रमिता B इति संज्ञयात्र व्यवहता । अस्यां प्रतौ दिङ्नागरचितो न्यायप्रवेशकः (पत्र १-१७), सर्वसिद्धान्तप्रवेशकः (पत्र १७-४१), हरिभद्रसूरिविरचिता न्यायप्रवेशकटीका (पत्र ४२-१३४) इति ग्रन्थत्रयं विद्यते । अपरा त्वितोऽपि प्राचीना जीर्णप्राया १७ पत्रात्मिका “१२ $\frac{3}{8}$  x १ $\frac{1}{3}$ ” इंच (Inch) प्रमिता प्रतिः A संज्ञयात्र व्यवहता । एवं च A-B प्रत्योर्मध्ये ये उपयोगिनः पाठभेदास्तेऽत्र A संकेतेन B संकेतेन बोपन्यस्ताः । स्पष्टीकरणाद्यर्थमुपयोगीनि टिप्पणानि च नितेश्य सम्पादितोऽयं ग्रन्थो देव-गुरुकृपाबलात् ॥

१. सर्वनिगमेषु सर्वसिद्धान्तेष्विति भावः । “गमनं गमः परिच्छेद इत्यर्थः । निश्चितो गमो निगमः ।” -न्यायावतारवृत्ति पृ० ७५ । “निगमाः पूर्वाणिग्वेदनश्चयाध्ववणिक्पथाः ।” -हैमकोशः ॥ २. इदं मङ्गलपद्यं B प्रतौ नास्ति ॥ ३. ‘मपदि’ A ॥

## [ नैयायिकदर्शनम् ]

तत्र नैयायिकदर्शने तावत् “प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-  
दृष्टान्त-सिद्धान्त-ऽवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-  
हेत्वाभासच्छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानाद् निःश्रेयसाधिगमः”  
[न्यायसूत्र १।१।१] ।

अस्य व्याख्या—प्रणीयतेऽनेनेति प्रमाणम् । तस्य च सामान्य-  
लक्षणम्-अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम् । उपलब्धिश्च हानादिबुद्धिः ।  
तच्चतुर्धा, तद्यथा-“प्रत्यक्ष-ऽनुमानो-पमान-शब्दाः प्रमाणानि” [न्या०  
सू० १।१।३] । तत्र प्रत्यक्षम्—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्य-  
पदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्” [न्या० सू० १।१।४।] ।  
अस्य गमनिका—इन्द्रियाणि घ्राणादीनि, अर्था घटादयो गन्धादयश्च,  
तेषां सन्निकर्षः सम्बन्धः, तस्मात् सन्निकर्षादुत्पन्नम्, नाऽभिव्यक्तम्,  
ततश्च साङ्ख्यमतव्यवच्छेदः । ज्ञानग्रहणात् सुखादिव्यवच्छेदः । तच्च  
शब्देन व्यपदिश्यमानं शाब्दं प्रसज्यते, तेनोच्यते-अव्यपदेश्यमिति । तथा  
तदेव ज्ञानं व्यभिचार्यपि भवति, तेनेह ‘अव्यभिचारि’ इति ।  
‘व्यवसायात्मकम्’ निश्चयस्वभावम्, ततश्च संशयज्ञानव्यवच्छेदः ।  
‘प्रत्यक्षम्’ इति लक्ष्यनिर्देशः ॥

अनुमानम्—“तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्—पूर्ववत्, शेषवत्,

१. तत्त्वपरिज्ञानाद् A ॥ २. “प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्”—न्यायकलिका०  
पृ० १ ॥ ३. च B मध्ये नास्ति ॥ ४. “उपलब्धिहेतुश्च प्रमाणम् ।” —  
न्यायभाष्य २।१।१। न्यायवार्तिक० पृ० १५ । “अर्थोपलब्धिहेतुः स्यात् प्रमाणं  
तच्चतुर्विधम् ।” —षड्दर्शनसमुच्चय ॥१६॥ “अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम्’ इति  
नैयायिकादयः”—न्यायावतारवृत्ति० पृ० ९। प्रमाणमीमांसा १।१।८॥ ५. °श्रेह  
बुद्धि तच्चतुर्धा तद्यथा B । °श्च हानादिबुद्धिः तद्यथा A ॥ ६. “प्रमाणेन  
खल्वयं ज्ञाताऽर्थमुपलभ्य तमर्थमभीप्सति जिहासति वा ।”—न्यायभाष्य० ॥ ७.  
“गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः”—न्यायसूत्र० १।१।१४।  
“पृथिव्यादीनि गुणाश्चेति द्वन्द्वसमासः ।”—न्यायवार्तिक पृ० २०५ ॥  
८. अभिव्यक्तम् A ॥ ९. अतश्छब्देन B ॥ १०. प्रयुज्यते A ॥



सामान्यतो दृष्टं च” [न्या० सू० १।१।५] इति । तत्पूर्वकमिति प्रत्यक्षपूर्वकम् । त्रिविधमिति लिङ्गविभागः । पूर्ववदिति कारणात् कार्यानुमानम्, यथा मेघोन्नतिदर्शनाद् भविष्यति वृष्टिरिति । शेषवदिति कार्यात् कारणानुमानम्, यथा विशिष्टाद् नदीपूरदर्शनात् ‘उपरि वृष्टो देवः’ इति गम्यते । सामान्यतो दृष्टं नाम यथा देवदत्तादौ गतिपूर्विकां देशान्तरप्राप्तिमुपलभ्य आदित्येऽपि समधिगम्यते ॥

“प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्” [न्या० सू० १।१।६] । प्रसिद्धो गौः, तेन सह यत् साधर्म्यं सामान्यं ककुद-खुर-विषाणादि-मत्त्वम्, तस्मात् साधर्म्यात् साध्यस्य गवयस्य साधनमुपमानम्, यथा गौः तथा गवय इति । किं पुनरत्रोपमानेन क्रियते ? संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः ॥

अथ कः शब्दः ? “आप्तोपदेशः शब्दः” [न्या० सू० १।१।७] । आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा, तेन य उपदेशः क्रियते स आप्तोपदेश आगमः शब्दाख्यं प्रमाणमित्युच्यते ॥

किं पुनरत्रानेन प्रमाणेनार्थजातं मुमुक्षुणा प्रमेयम् ? तदुच्यते—  
आत्म-शरीरेन्द्रिया-ऽर्थ-बुद्धि-मनः-प्रवृत्ति-दोष-प्रेत्यभाव-फल-दुःखा-ऽपवर्गास्तु प्रमेयम्” [न्या० सू० १।१।९] ॥

अथ संशयः-किञ्चि(स्वि)दित्यनवधारणात्मकः प्रत्ययः संशयः ।

१. यत् नास्ति B ॥ २. साधर्म्यतः B ॥ ३. “किं पुनरत्रोपमानेन क्रियते ?...समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः”-न्यायभाष्य १।१।६ ॥ ४. आप्तश्च B ॥ “आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा”-न्यायभाष्य १।१।७ ॥ ५. “दुःखसुखा” A ॥ ६. किमित्यं B ॥ “स्थाणु-पुरुषयोः समानं धर्ममारोहपरिणाहौ पश्यन् पूर्वदृष्टं च तयोर्विशेषं बुभुत्समानः ‘किंस्वित्’ इत्यन्यतरं नावधारयति तदनवधारणं ज्ञानं संशयः”-न्यायभाष्य १।१।२३। ‘किंस्वित्’ इति विमर्शः संशयः ।”-न्यायकलिका, पृ० ८ । “किंस्वित्’ इति वस्तुविमर्शमात्रमनवधारणं ज्ञानं संशयः ।” -न्यायभाष्य १।१।१। “किंस्वित्’ इति दोलायमानस्य उभय-कोटिस्पृशः प्रत्ययस्याऽर्थेऽनवधारणात्मकस्य”-न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका० पृ० ३६ ॥

तद्यथा-मन्दमन्दप्रकाशे स्थाणु-पुरुषोचिति(त)भूभागे 'स्थाणुः स्यात् पुरुषः स्यात्' इति ॥

अथ प्रयोजनम्-येन प्रयुक्तः प्रवर्तते तत् प्रयोजनम् ॥

अथ दृष्टान्तः-अविप्रतिपत्तिविषयापन्नोऽर्थो दृष्टान्तः, यथा अनित्याद्यर्थविचारे घटाद्याकाशादिरिति ॥

अथ सिद्धान्तः । स च चतुर्विधः, तद्यथा-सर्वतन्त्रसिद्धान्तः १, प्रतितन्त्रसिद्धान्तः २, अधिकरणसिद्धान्तः ३, अभ्युपगमसिद्धान्तश्चेति ४ ॥

अथावयवाः—“प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि अवयवाः” [न्या० सू० १।१।३२] । तत्र 'अनित्यः शब्दः' इति प्रतिज्ञा । 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्' इति हेतुः । 'घटवत्' इत्युदाहरणम् ।\* इह यद् यदुत्पत्तिधर्मकं तत् तदनित्यं दृष्टम्, यथा घटः, व्याप्तिदृ(र्ह)ष्टान्ता-नुपातिनी\* । तथा चोत्पत्तिधर्मकः शब्द इत्युपनयः । तस्मादुत्पत्ति-धर्मकत्वादनित्यः शब्द इति निगमनम् । वैधर्म्योदाहरणेऽपि\* इह यदनित्यं न भवति तदुत्पत्तिधर्मकमपि न भवति, यथा आकाशम्, \*न च तथाऽनुत्पत्तिधर्मकः शब्द इति, तस्मादुत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः शब्द इति निगमनम् ॥

संशयादूर्द्ध्वं भवितव्यताप्रत्ययस्तर्कः, यथा भवितव्यमत्र स्थाणुना पुरुषेण वेति ॥

१. स्थाणुः पुरुषो वेति भूभागे B ॥ २. 'अनित्य' साधने साधर्म्योदाहरणत्वेन घटादेः वैधर्म्योदाहरणत्वेन आकाशादेश्च सर्वथौचित्यात् 'अनित्याद्यर्थविचारे' इति पाठः रमणीय एव । दृश्यताम्. न्यायभाष्य १।१।३६, ३७ । ३. ★★ एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः B प्रतौ नास्ति ॥ ४. निगमनम् A प्रतौ नास्ति ॥ ५. तुलना—“भवितव्यमिति य ऊहः स तर्कः”—न्यायवार्तिकं पृ० ३२६ ॥ “अनवधारणात्मकः प्रत्ययः संशयः 'किंस्वित्' इति । अवधारणात्मकः

संशय-तर्काभ्यामूर्ध्वं निश्चितः प्रत्ययो निर्णयः ॥

तिस्रः कथाः—वादो जल्पो वितण्डा । तत्र शिष्या-SSचार्ययोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेण अभ्यासख्यापनाय वादकथा ॥

विजिगीषुणा सार्द्धं “छल-जाति-निग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः” [न्या० सू० १।२।२] ॥

स्वपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ॥ अनैकान्तिकादयो हेत्वाभासाः ॥

नवकम्बलो देवदत्त इत्यादिच्छलम् ॥ दूषणाभासास्तु जातयः ॥

निग्रहस्थानानि पराजयवस्तूनि । तद्यथा—“प्रतिज्ञाहानिः, प्रतिज्ञान्तरम्, प्रतिज्ञाविरोधः, प्रतिज्ञासंन्यासः, हेत्वन्तरम्, अर्थान्तरम्, निरर्थकम्, अविज्ञातार्थम्, अपार्थकम्, अप्राप्तकालम्, न्यूनम्, अधिकम्, पुनरुक्तम्, अननुभाषणम्, अप्रतिज्ञानम्, अप्रतिभा, विक्षेपः, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षणम्, निरनुयोज्यानुयोगः, अपसिद्धान्तः, हेत्वाभासाश्चेति निग्रहस्थानानि” [न्या० सू० ५।२।१] ॥

इति नैयायिकदर्शनं समाप्तम् ॥

## [ वैशेषिकदर्शनम् ]

अथ वैशेषिकतन्त्रसमासप्रतिपादनायाह-द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः । तत्र नव द्रव्याणि-

प्रत्ययः ‘एवमिदम्’ इति निर्णयः । अयं तु संशयात् प्रच्युतः कारणोप-पत्तिसामर्थ्यात्.....निर्णयं चाप्राप्तो विशेषादर्शनात् ।”—न्यायवार्तिक पृ० ३२७ ॥

१. °पलम्भो A ॥ २. अनेकान्तादयो B ॥ ३. °दत्तादिच्छ° B ॥ ४. °र्थकम् A ॥ ५. कथाविक्षेपः A ॥ ६. °योगोपे° A ॥ ७. °योगानु° A ॥ ८. °सश्चेति B ॥ ९. इति A नास्ति ॥ १०. °कमतं स° A ॥

“पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि” [वै० सू० १।१।४] ।

तत्र पृथिवीत्वयोगात् पृथिवी । सा च द्विधा-नित्या चानित्या च । तत्र परमाणुलक्षणा नित्या, कार्यलक्षणा त्वनित्या । सा च चतुर्दश-गुणोपेता, तद्यथा- रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-सङ्ख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वा-ऽपरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-वेगैश्चतुर्दशभिर्गुणै-र्गुणवती ॥

“अप्त्वाभिसम्बन्धादापः” [प्र० भा० पृ० १४] । ताश्च रूप-रस-स्पर्श-सङ्ख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वा-ऽपरत्व-गुरुत्व-स्वाभाविकद्रवत्व-स्नेह-वेगवत्यः तासु च रूपं शुक्लमेव, रसो मधुर एव, स्पर्शः शीत एव ।

“तेजस्त्वाभिसम्बन्धात् तेजः” [प्र० भा० पृ० १५] । तच्च रूप-स्पर्श-सङ्ख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वा-ऽपरत्व-

१. नित्याऽनित्या च क्क । तुलना-“सा तु द्विविधा-नित्या चानित्या च । परमाणुलक्षणा नित्या, कार्यलक्षणा त्वनित्या ।”-प्र० भा० पृ० ४ ॥ २. यद्यपि ‘पृथिवीत्वाभिसम्बन्धात् पृथिवी रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिणाम-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वा-ऽपरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-संस्कारवती’ [प्र० भा० पृ० ४-५] इति सर्वेषु वैशेषिकग्रन्थेषु ‘वेग’शब्दस्थाने ‘संस्कार’ शब्दं पठित्वा चतुर्दशत्वं पृथिवीगुणानां वर्णितम्, तथापि संस्कारभेदेषु वेगस्यैव पृथिव्यां सम्भवाद् वेग एवात्र उपात्तो ग्रन्थकृता इति बोध्यम् । यद्यपि “संस्कारस्त्रिविधो वेगो भावना स्थितिस्थापकश्च” [प्र० भा० पृ० १३६] इति प्रशस्तपादभाष्ये तदनुसारिषु च सर्वेष्वपि ग्रन्थेषु संस्कारभेदतया स्थितिस्थापकः परिगणितोऽस्ति, सोऽपि च पृथिव्यां वर्तते, किन्तु वैशेषिकसूत्रेषु कुत्रचिदपि ‘स्थितिस्थापक’सूचना-नुपलब्धेरस्मिन्नपि च सर्वसिद्धान्तप्रवेशकग्रन्थे कुत्रचिदपि तस्यानुल्लेखात् स्थिति-स्थापको नाभिमतोऽस्य ग्रन्थकृत इत्यपि भवेत् । वेगो भावना चेति भेदद्वयमेव स्वीकुरुतेऽयं ग्रन्थकार इति प्रतीयते । तथा च भावनाया आत्मन्येव वृत्तेः अवशिष्टस्य वेगाख्यसंस्कारस्यैव पृथिव्यां वृत्तेर्वेगवत्त्वमेवात्र पृथिव्या वर्णितमिति प्रतिभाति ॥

नैमित्तिक-द्रवत्व-वेगैरेकादशभिर्गुणैर्गुणवत् । तत्र रूपं शुक्लं भास्वरं च, स्पर्श उष्ण एवेति ॥

‘वायुत्वाभिसम्बन्धाद् वायुः’ [प्र० भा० पृ० १६] इति । स च अनुष्णाशीतस्पर्श-सङ्ख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वा-ऽपरत्व-वेगैर्नवभिर्गुणैर्गुणवान् धृति-कम्पादिलिङ्गः शब्दलिङ्गो गन्धादि-वियुक्तोऽनुष्णाशीतस्पर्शल्लिङ्गश्चेति ॥

‘आकाशम्’ इति पारिभाषिकी संज्ञा, एकत्वात् तस्य । सङ्ख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-शब्दैः षड्भिर्गुणैर्गुणवत् शब्दलिङ्गं चेति ॥

“कालः परापरव्यतिकर-यौगपद्या-ऽयौगपद्य-चिर-क्षिप्र-प्रत्ययलिङ्गः” [प्र० भा० पृ० २६] । स सङ्ख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागैः पञ्चभिर्गुणैर्गुणवान् ॥

“इत इदम्” इति यतस्तद् दिशो लिङ्गम्” [वै० सू० २।२।१२] । तद्यथा-इदमस्तात् पूर्वेण इदमुत्तरेणेति । सङ्ख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागैः पञ्चभिर्गुणैर्गुणवती, संज्ञा च पारिभाषिकी चेति ॥

“आत्मत्वाभिसम्बन्धादात्मा” [प्र० भा०, पृ० ३०] । स च चतुर्दशभिर्गुणैर्गुणवान् । बुद्धि-सुख-दुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्नलिङ्ग-

१. °अधृति A B । तुलना-“विषयस्तूपलभ्यमानस्पर्शाधिष्ठानभूतः स्पर्श-शब्द-धृति-कम्पलिङ्गः तिर्यगमनस्वभावो मेघादिप्रेरणा-धारणादिसमर्थः ।”-प्र० भा० पृ. १८ ॥ २. गन्धादियुक्तः B । “क्षितावेव गन्धः”-प्र० भा० पृ० ११ ॥ ३. °स्पर्शश्चेति B ॥ ४. “आकाश-काल-दिशामेकैकत्वादपरजात्यभावे पारिभाषिक्यस्तिस्रः संज्ञा भवन्ति-आकाशः कालो दिगिति ।”-प्र० भा० पृ० २३ ॥ ५. °यौगपद्यचिर° B ॥ ६. °प्रत्ययः सङ्ख्या A । तुलना-“कालः परापरव्यतिकर-यौगपद्या-ऽयौगपद्य-चिर-क्षिप्रप्रत्ययलिङ्गः ।”-प्र० भा० पृ० २६ ॥ ७. परि° B ॥

धर्मा-ऽधर्म-संस्कार-सङ्ख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागाश्चतुर्दश गुणाः ॥

मनस्त्वाभिसम्बन्धाद् मनः । तच्च क्रमज्ञानोत्पत्तिलिङ्गं सङ्ख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वाऽ-परत्व-वेगैरष्टभिर्गुणैर्गुणवत् । इति द्रव्यपदार्थः ॥

अथ गुणाः- रूप-रस-गन्ध-स्पर्शा विशेषगुणाः, सङ्ख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोग-विभागौ परत्वा-ऽपरत्वे इत्येते सामान्य-गुणाः, बुद्धि-सुख-दुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्मा-ऽधर्म-संस्कारा आत्म-गुणाः, गुरुत्वं पृथिव्युदकयोः, द्रवत्वं पृथिव्युदकाग्निषु, स्नेहोऽम्भस्येव,

१. °त्पत्तिलिङ्गं मनः संख्या B । “प्राणा-ऽपान-निमेषोन्मेष-जीवन-मनोगतिरिन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नश्चेत्यात्मलिङ्गानि”-वै० सू० ३।२।४। “आत्मलिङ्गाधिकारे बुद्ध्यादयः प्रयत्नान्ताः सिद्धाः”-प्र० भा० पृ० ३४ । “आत्मलिङ्गेति । प्राणादिसूत्रे बुद्धिः कण्ठवेण नोक्ता इति चेत्, सूत्रेण विनास्याः प्रत्येयत्वात्, देवदत्तबुद्ध्या विष्णुमित्रस्येच्छाद्यदर्शनेनाऽऽत्मनीच्छादिकथनेन जनकतया तत्समानाधिकरणबुद्धेः सूचितत्वात् ।”-प्र० भा० सेतु० पृ० ३८९ ॥

२. परत्वा-ऽपरत्वैः सप्तभिर्गुणैः A । तुलना-“तस्य गुणाः संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वा-ऽपरत्व-संस्काराः ।”-प्र० भा० पृ० ३६ । “संस्कारश्च मूर्तत्वादेव वेगाख्यः ॥”- प्र० भा० व्योमवती पृ० ४२७ । संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वा-ऽपरत्व-संस्काराः मनःसमवेताः ॥१५४ ॥-सप्तपदार्थी [शिवादित्यरचिता] ॥

३. रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-स्नेह-सांसिद्धिकद्रवत्व-बुद्धि-सुख-दुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्मा-ऽधर्म-भावना-शब्दा वैशेषिकगुणाः”-प्र० भा० पृ० ३९ । “रूप-स्पर्श-गन्ध-रस-स्नेहाः सांसिद्धिको द्रवः । बुद्ध्यादिनवशब्दाश्च वैशेषिकगुणाः स्मृताः ॥” इति प्राच्यैः परिभाषितत्वात्”-प्र० भा० सूक्ति पृ० १६३ ।- इत्यादयः प्रशस्तपाद-भाष्यानुसारिवैशेषिकग्रन्थेषु बहव उल्लेखा दृश्यन्ते । वैशेषिकदर्शनसूत्रेषु तु नैतद्विषयकः कश्चनापि उल्लेखः । अतोऽत्र ग्रन्थकृता रूप-रस-गन्ध-स्पर्शानां चतुर्णामेव यद् विशेषगुणत्वं वर्णितं तत् प्रशस्तपादभाष्यपरम्परतो विभिन्ना-मन्यामेव काञ्चिदपि परम्परामाश्रित्य कृतं भवेदिति सम्भाव्यते ।

वेगाख्यः संस्कारो मूर्तद्रव्येष्वेव, आकाशगुणः शब्द इति । गुणत्वयोगाच्च गुणा इति । तथा चापान्तरालसामान्यानि- रूपत्वयोगाद् रूपम्, रसत्वादियोगाद् रसादयः । इति गुणपदार्थः ।

अथ कर्मपदार्थः-“उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि” [वै० सू० २।१।७] । कर्मत्वयोगात् कर्म । गमनग्रहणाच्च भ्रमण-स्यन्दन-नमनोन्नमनाद्यवरोधः । इति कर्मपदार्थः ।

“सामान्यं द्विविधम्-परमपरं च” [प्र० भा० पृ० १६४] । तत्र परं सत्ता द्रव्य-गुण-कर्मसु ‘सत् सत्’ इत्यनुवृत्तिप्रत्ययकारणत्वात् सामान्यमेव । यत उक्तम्-“सदिति यतो द्रव्य-गुण-कर्मसु सा सत्ता” [वै० सू० १।१।७] । तथाऽपरं द्रव्यत्व-गुणत्व-कर्मत्वादि । तत्र द्रव्यत्वं द्रव्येष्वेव । गुणत्वं गुणेष्वेव । कर्मत्वं कर्मस्वेव । इति सामान्य-पदार्थः ॥

“नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः” [प्र० भा० पृ० ४] । नित्यद्रव्याणि च चतुर्विधाः परमाणवो मुक्तात्मानो मुक्तमनांसि च । ते चात्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतुत्वाद् विशेषा एव । इति विशेषपदार्थः ॥

१. गुण° A ॥ २. तथा अन्तराल° B ॥ ३. °द्यवरोधनम् A । °द्यविरोधः B ॥ तुलना-“अथ विशेषसंज्ञया किमर्थं गमनग्रहणं कृतमिति, न, भ्रमणाद्यवरोधार्थत्वात् । उत्क्षेपणादिशब्दैरनवरुद्धानां भ्रमण-पतन-स्यन्दनादीनामवरोधार्थं गमनग्रहणं कृतमिति ।”-प्र० भा० पृ १५३ । “अनवरुद्धानाम्-असंगृहीतानाम्”-प्र० भा० व्योमवती पृ० ६६१ ॥ ४. च B नास्ति ॥ ५. °द्यनुगतप्र° B । “सा चाऽनुवृत्तेर्हेतुत्वात् सामान्यमेव”-प्र० भा० पृ० ४ ॥ ६. अथा° B ॥ ७. चतुर्था A ॥ ८. च B नास्ति ॥ ९. चात्यन्तव्या° B ॥ १०. °त्तिप्रत्ययहे° A । “ते च खलु अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतुत्वाद् विशेषा एव”-प्र० भा० (व्योमवतीसमेत) पृ० ५५ ॥

“अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इहेति प्रत्ययहेतुः स समवायः” [प्र० भा० पृ० ५, १७१] । इति समवायपदार्थः ।

वैशेषिकसिद्धान्ते प्रमाणं वक्तव्यमिति चेत्, तदुच्यते-लैङ्गिक-प्रत्यक्षे द्वे एव प्रमाणे, शेषप्रमाणानामत्रैवान्तर्भावात् ॥

तत्र लैङ्गिकं प्रमाणं दर्शयन्नाह-अस्येदं कार्यम्, अस्येदं कारणं सम्बन्धि एकार्थसमवायि विरोधि चेति लैङ्गिकम् । अस्येदं कार्यम्, यथा विशिष्टो नदीपूरो वृष्टेः । अस्येदं कारणम्, यथा मेघोन्नतिवृष्टिरेव । सम्बन्धि द्विविधम्-संयोगि समवायि चेति । तत्र संयोगि यथा-धूमोऽग्नेः । समवायि यथा-विषाणं गोः । एकार्थसमवायि द्विविधम्-कार्यं कार्यान्तरस्य, कारणं कारणान्तरस्य चेति । तत्र कार्यं कार्यान्तरस्य यथा-रूपं स्पर्शस्य । कारणं कारणान्तरस्य यथा-पाणिः पादस्य । विरोधि चतुर्विधम्-अभूतं भूतस्य, भूतमभूतस्य, अभूतमभूतस्य, भूतं भूतस्येति । तत्र अभूतं वर्षकर्म भूतस्य वाय्वभ्रसंयोगस्य लिङ्गम् । तथा

१. इहेदंप्रत्यय<sup>०</sup> A । “इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः” वै० सू० ७।२।२६। यद्यपि मुद्रिते प्रशस्तपादभाष्ये ‘इहप्रत्ययहेतुः’ इत्येव पाठ उपलभ्यते, किन्तु वैशेषिकसूत्रोपस्कारे “तदुक्तं पदार्थप्रवेशाख्ये प्रकरणे-अयुतसिद्धानामाधार्या-ऽऽधारभूतानां यः सम्बन्ध इहेति प्रत्ययहेतुः स समवायः [प्र० भा०] इति” (पृ० १९३) इति प्रशस्तपादभाष्यपाठ उद्धृतोऽस्तीति ध्येयम् ॥ २. यद्यपि “प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि” इति प्रमाणमीमांसायां (पृ० ७) न्यायावतारवृत्तौ (पृ० ९) स्याद्वादरत्नाकरादिषु (पृ० ३१३, १०४१) च वैशेषिकसम्मतत्वेनोक्तं तथापि तद् व्योमशिवादेरेव व्याख्यापरम्परानुसारेण ज्ञेयम् (दृश्यतां प्रशस्तपादभाष्यस्य व्योमवती व्याख्या० पृ० ५५४, ५८४, ५८७) । अन्येषां तु वैशेषिकाणां प्रमाणद्वित्वमेवाभिमतमिति ध्येयम् ॥ ३. “अस्येदं कार्यं कारणं सम्बन्ध्येकार्थसमवायि विरोधि चेति लैङ्गिकम् ।”-वै० सू० ९।१८।। ४. “संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि च । कार्यं कार्यान्तरस्य कारणं कारणान्तरस्य विरोध्यभूतं भूतस्य भूतमभूतस्य अभूतमभूतस्य भूतं भूतस्य ।”-वै० सू० ३।१८।।



भूतं वर्षकर्म अभूतस्य वाय्वभ्रसंयोगस्य लिङ्गम् । अभूतमभूतस्य यथा-  
अभूता श्यामता अभूतस्य घटाग्निसंयोगस्य लिङ्गम् । भूतं भूतस्य यथा-  
स्यन्दनकर्म सेतुभङ्गस्य । तथाऽपरमपि लिङ्गमुत्प्रेक्ष्यमनया दिशा यथा,-  
जलप्रसादोऽगस्त्युदयस्य, तथा चन्द्रोदयः समुद्रवृद्धेः कुमुदविकाशस्य  
चेत्यादि । तच्च 'अस्येदम्' इत्यादिना सूचितम्, यतो लिङ्गोपलक्षणायेदं  
सूत्रम्, न नियमप्रतिपादनायेति ॥

आह-प्रत्यक्षलक्षणं किम् ? इति चेत्, तदाह-"आत्मे-न्द्रिय-  
मनोऽर्थसन्निकर्षाद् यन्निष्पद्यते तदन्यत्" [वै० सू० ३।१।१३] । अस्य  
व्याख्या-आत्मा मनसा युज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेनेति ।  
ततश्चतुष्टयसन्निकर्षाद् घट-रूपादिज्ञानम्, त्रयसन्निकर्षाच्छब्दे,  
द्वयसन्निकर्षात् सुखादिषु । एवं प्रत्यक्षमपि निर्दिष्टम् ॥

इति वैशेषिकमतं समाप्तम् ॥

१. घटादि B ॥ २. सेतुबंधस्य A B । "स्रोतोभूतानामपां स्थलान्निम्ना-  
भिसर्पणं यत् तद् द्रवत्वात् स्यन्दनम् । कथम् ? समन्ताद् रोधः-  
संयोगेनाऽवयविद्रवत्वं प्रतिबद्धम्..... । यदा तु मात्रया सेतुभेदः कृतो भवति  
तदा...सेतुसमीपस्थस्यावयवद्रवत्वस्य उत्तरोत्तरेषामवयवद्रवत्वानां प्रतिबन्धकाभावाद्  
वृत्तिलाभः ।....तत्र च कारणानां संयुक्तानां प्रतिबन्धेन गमने यदवयविनि कर्म  
उत्पद्यते तत् स्यन्दनाख्यमिति"-प्र. भा० पृ० १६०-१६१ ॥ ३. यथा A ॥  
४. चेति B । "शास्त्रे कार्यादिग्रहणं निदर्शनार्थं कृतं नावधारणार्थम् ।.... लिङ्गं  
चन्द्रोदयः समुद्रवृद्धेः कुमुदविकाशस्य च शरदि जलप्रसादोऽगस्त्योदयस्येत्येवमादि ।  
तत् सर्वम् 'अस्येदम्' इति सम्बन्धमात्रवचनात् सिद्धम् ।"-प्र० भा० पृ०  
१०४ । "इत्येवमादि' इति 'आदि' पदेन उदयादिरस्तादेर्लिङ्गमित्यूह्यम्" ।-प्र०  
भा० व्योमवती पृ० ५७३ ॥ ५. तत्प्रत्यक्षम् B ॥ ६. मर्थेन A ॥ ७. आत्म-  
मन-इन्द्रिया-ऽर्थानां चतुर्णां संयोगात् । ८. आत्म-मनः-श्रोत्राणां त्रयाणां संयोगात् ॥  
९. आत्म-मनसोर्द्वयोः संयोगात् ॥ १०. वैशेषिकतन्त्रः समाप्तः A ॥

## [ जैनदर्शनम् ]

अथ जैनसिद्धान्तानुसारेण प्रमाण-प्रमेयस्वरूपावधारणायेद-  
मुपदिश्यते । आह-यद्येवम्, ब्रूहि किं तत् प्रमाणं प्रमेयं च ? इति ।  
तत्र प्रमेयं “जीवा-ऽजीवा-ऽऽस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम्”  
[तत्त्वार्थसूत्र० १।४] । तत्र सुख-दुःख-ज्ञानादिपरिणामलक्षणो जीवः ।  
विपरीतस्त्वजीवः । “मिथ्यादर्शना-ऽविरति-प्रमाद-कषाय-योगा  
बन्धहेतवः, काय-वाङ्-मनःकर्म योगः, स आश्रवः, शुभः पुण्यस्य”  
[तत्त्वार्थसूत्र ८।१, ६।१, ६।२, ६।३] विपरीतः पापस्य । आश्रवकार्य  
बन्धः । आश्रवविपरीतः संवरः । संवरफलं निर्जरा ।

अथ प्रमाणं प्रत्यक्षमनुमानमागमश्चेति । तत्र प्रत्यक्षम्-  
इन्द्रियमनोनिमित्तं विज्ञानं निश्चितमव्यभिचारीति लौकिकं व्यवहारतः  
प्रत्यक्षम्, अवध्यादि निश्चयतः । अन्यथाऽनुपपन्नल्लिङ्गल्लिङ्गिनि  
ज्ञानमनुमानम्, यथा धूमादग्निज्ञानम् । ‘तपसः स्वर्गो भवति’ इत्यागमः  
प्रमाणम्, निश्चिता-ऽविपरीतप्रत्ययोत्पादकत्वात्, चक्षुरादिवत् ।

इति जैनसिद्धान्तप्रवेशकः समाप्तः ॥

१. किमेतत् A ॥ २. °ऽऽश्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा° B ॥ ३. “अशुभः  
पापस्य”-तत्त्वार्थसूत्र ६ ।४॥ ४. तत्र प्रमाणं B ॥ ५. यद्यपि “प्रमाणं द्विधा-  
प्रत्यक्षं परोक्षं च” [प्र० मी० १।११९, १०] “विशदः प्रत्यक्षम्” [प्र० मी०  
१।११३] “अविशदः परोक्षम्, स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानु-मानागमास्तद्विधयः” [प्र०  
मी० १।२।१, २] इति प्रमाणमीमांसादिश्वेताम्बरीयग्रन्थेषु प्रमाणविभाग उपलभ्यते,  
किन्तु स अकलङ्कोपज्ञ इति प्रतीयते । श्वेताम्बराणां प्राचीनतमेषु ग्रन्थेषु तु  
त्रिविधत्वं प्रमाणानां बहुत्र वर्णितं दृश्यते । दृश्यतां न्यायावतारः ( सिद्ध-  
सेनदिवाकरप्रणीतः ) कारिका ४, ५, ६, ७ । न्यायावतार-वार्तिकवृत्तिः पृ० ७७,  
९९ । अनेकान्तजयपताकाटीका पृ० १४२, २१५ ॥ ६. °चारि लौकिकं A  
॥ ७. “साध्याविनाभुवो लिङ्गात् साध्यनिश्चयकं स्मृतम् । अनुमानं तदध्रान्तं  
प्रमाणत्वात् समक्षवत् ॥४॥” -न्यायावतारः ॥ ८. °इत्यागमं B ॥  
९. समाप्तम् B नास्ति ।

[ साङ्ख्यदर्शनम् ]

अथ साङ्ख्यमतप्रदर्शनायेदमुपदिश्यते । तत्र हि ↑ प्रकृतिः पुरुषः तत्संयोगश्च ↑ । सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः । ↑ तस्या एव वैषम्यावस्था परिणामः । यथा ↑ \*तस्याः प्रकृतेर्महानुत्पद्यते, महतोऽहङ्कारः\* ततश्चाहङ्कारदेकादशेन्द्रियाणि-पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, अपरं मनः । तथा तत एवाहङ्कारत् तमोबहुलात् पञ्च तन्मात्राणि, तद्यथा-शब्दतन्मात्रम्, स्पर्शतन्मात्रम्, रूपतन्मात्रम्, रसतन्मात्रम्, गन्धतन्मात्र-मिति । एतेभ्यश्च यथाक्रमेण भूतानि आकाशवाय्वग्न्युदकभूमयः भूतसमुदायश्च शरीर-वृक्षादयः ।

सत्त्वादिलक्षणं वक्तव्यमिति चेत्; तदुच्यते-प्रसाद-लाघव-

१. \*मप\* A ॥ २. ↑ ↑ एतदन्तर्गतः पाठः B नास्ति । “ततश्च यहच्छामात्रत्वादङ्गीकृतपुरुषार्थयत्नार्थहानिः ।...। तस्य च हानौ प्रधान-पुरुष-संयोगत्रित्वपरिज्ञानार्थशास्त्रयत्ना[र्थ]हानिरपि”-नयचक्रवृत्तिः पृ० १४ ॥ ३. \*तमःसाम्या\* B । “एतेषां या समावस्था सा प्रकृतिः किलोच्यते ।”-षड्दर्शनसमुच्चय ३६ A ॥ ४. ↑ ↑ एतदन्तर्गतः पाठः B नास्ति ॥ ५. ★★ एतत्स्थाने A प्रतावित्थं पाठः- महान् अहङ्कारः । तुलना— “प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः । तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥२२॥”-सांख्यकारिका ॥ ६. पञ्च B नास्ति ॥ ७. च एकादशं मनः A ॥ ८. तथैकादशाद् गणात् तमो B । तुलना-“अभिमानोऽहंकार-स्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः । ऐन्द्रिय एकादशकस्तन्मात्रकपञ्चकश्चैव ॥२४॥ सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात् । भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥२५॥”-सांख्यका० । ९. शब्द रूप रस गन्ध स्पर्श । एतेभ्यश्च तथा क्रमेण भूतानि तथा पृथिव्याप्तेजोवाय्वाकाशादीनि भूतसमु° B । तुलना-“तन्मात्राणि शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाख्यानि”-सांख्यका० माठरवृत्ति पृ० १० ॥ १०. प्रकाश[ प्रसा ]द° B । “प्रीत्यप्रीति-विषादात्मकाः प्रकाश-प्रवृत्ति-नियमार्थाः ॥१२॥”-सांख्यका० ॥

प्रसवाऽभिष्वङ्ग-<sup>१</sup>प्रीतयः कार्यं सत्त्वस्य, शोष-ताप-भेद-स्तम्भोद्वेगा-  
ऽपद्वेषाः कार्यं रजसः, आवरण-सादन-बीभत्स-दैन्य-गौरवाणि तमसः  
कार्यम् ।

“सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः ।

गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥” [साङ्ख्यका०-  
१३] एवं तावत् प्रकृतिः स्थूल-सूक्ष्मरूपेण व्याख्याता ॥

अथ पुरुषः किंस्वरूपः ? चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम् ।  
प्रकृतिपुरुषयोश्च उपभोगार्थः सम्बन्धः संयोगः पङ्गवन्धयोरिव ।  
उपभोगश्च शब्दाद्युपलम्भो गुणपुरुषान्तरोपलम्भश्च । आह-किमेकः

१. °धर्मप्रीत्यादयः A । एतद्विषयकेषु तत्तद्ग्रन्थान्तर्गतभागेषु प्रायः सर्वत्र  
‘धर्म’ शब्दस्थाने ‘उद्धर्ष’ पाठ एवोपलभ्यते । यदि तु यथाश्रुत ‘धर्म’ शब्दपाठे एव  
निबन्धः तर्हि ‘अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् । सात्त्विकमेतद्रूपं  
तामसमस्माद् विपर्यस्तम् ॥२३॥’ इति सांख्यकारिकाप्रतिपादितं धर्मं गृहीत्वा  
संगमनीयम् । २. °गप्रद्वेषाः B । ३. तुलना-“सुखानां शब्द-स्पर्श-रूप-रस-  
गन्धानां प्रसादलाघवप्रसवाऽभिष्वङ्गोद्धर्षप्रीतयः कार्यम् । दुःखानां शोष-ताप-  
भेदा(दो)पस्तम्भोद्वेगाऽपद्वेषाः । मूढानां वरण-सादन-ऽपध्वंसन-बैभत्स्य-दैन्य-  
गौरवाणीति”-नयचक्रवृत्ति पृ० १२ । “प्रसाद-लाघवा-ऽभिष्वङ्गोद्धर्षप्रीतयः  
सत्त्वस्य कार्यम् ।...ताप-शोष-भेद-स्तम्भोद्वेगापद्वेगा(षा) रजसः कार्यम् ।... दैन्या-  
ऽऽवरण-सादना-ऽ[प]ध्वंस-बीभत्स-गौरवाणि तमसः कार्यम्”-तत्त्वसं० पं०  
पृ० २१ । न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ३५० ॥ ४. नेयमार्या B प्रतौ ॥ ५. किंरूपः  
A ॥ ६. स्वं रूपम् A ॥ “वस्तुशून्यत्वेऽपि शब्दज्ञानमाहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो  
दृश्यते । तद्यथा-चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति । यदा चित्तिरेव पुरुषस्तदा किमत्र  
केन व्यपदिश्यते ?”-पातञ्जलदर्शनयोगभाष्य १।९॥ ७. सम्बन्धः A नास्ति ॥  
८. “पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य । पङ्गवन्धवदुभयोरपि  
संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥२१॥”-सांख्यका० ॥ ९. “सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्  
पुरुषस्य साधयति बुद्धिः सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम्  
॥३७॥”-साङ्ख्यका० । “तथा चाहुः-उपभोगस्य शब्दाद्युपलब्धिसादिगुण-  
पुरुषान्तरोपलब्धिरन्तः ।”-सांख्यका० युक्तिदीपिका पृ० १३९ । “प्रधानस्य

पुरुषोऽनेको वा ? अनेक इत्याह । का पुनरत्र युक्तिः ? जन्म-मरण-करणानां नियमदर्शनाद् धर्मादिषु प्रवृत्तिनानात्वाच्चानेकः पुरुषः, स आत्मोच्यते इति ॥

अथ प्रमाणं वक्तव्यम् । तदुच्यते-प्रत्यक्षमनुमानमागमश्चेति । तत्र प्रत्यक्षम्-“श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम्” [ ] श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-जिह्वा-घ्राणानां मनसाधिष्ठितानां शब्दादिविषयग्रहणे वर्तमाना वृत्तिः

पुरुषार्था प्रवृत्तिः । स च पुरुषार्थो द्विविधः-शब्दाद्युपलब्धिरादिगुण-पुरुषान्तरोपलब्धिरन्तश्च”-माठरवृ० पृ० ७९॥

१. °नियमादर्श° A । नियतदर्श° B । “जन्म-मरण-करणानां प्रतिनियमा-दयुगपत् प्रवृत्तेश्च । पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥१८॥ जन्मनियमात् पश्यामो बहवः पुरुषाः, यथैकस्मिन्नधिष्ठाने बहवः स्त्रियो गर्भिण्यः तत्र काश्चित् प्रसूताः काश्चित् प्रसविष्यन्ति । यद्येकः पुरुषः स्यात् एकस्यां प्रसूतायां सर्वाः प्रसवेरन् । अतः पश्यामो बहवः पुरुषाः ।... । यद्येकः पुरुषः स्यात् एकस्मिन् जीवति सर्वे जीवेरन्, एकस्मिन् मृते सर्वे म्रियेरन्, तस्मान्मरणनियमात् पश्यामो बहवः पुरुषाः । किञ्च, बधिराः, केचिन्मूकाः, केचिदमूकाः ।...। अतः कारणान्नियमात् पश्यामो बहवः पुरुषाः इति । अयुगपत्प्रवृत्ति(त्ते)श्च, इह लोके नानाविधा प्रवृत्तिर्दृष्टा, तद्यथा एको धर्मः, एकः कामः, एकोऽर्थः, अन्यः मोक्षः । अतः पश्यामो बहवः पुरुषा इति । इतश्च बहवः पुरुषाः त्रैगुण्यविपर्ययार्थम्, एकस्य कस्यचित् ब्राह्मणस्य त्रयः पुत्रा एकेनोत्पन्नाः तुल्यगोत्रस्वाध्यायाः । तत्र एकः सात्त्विकः, एकः राजसः, एकस्तामसः । यद्येकः पुरुषः स्यादेकस्मिन् सात्त्विके सर्वे सात्त्विका स्युः ।...। न चैकं भवति । अतः पश्यामो बहवः पुरुषा इति । त्रैगुण्यविपर्ययाद् “वासुदेवदर्शनात् मणिसूत्रदर्शनाच्च एकः पुरुषः” इति तेन (तन्न) । एवं तावत् पञ्चभिर्हेतुभिः पुरुषबहुत्वं सिद्धमित्याह ॥”-[जेसलमेरस्थपुस्तकसङ्ग्रहान्तर्गता] सांख्य-कारिकावृत्तिः A । पृ० ३२ ॥ २. °नानात्वादानेकः B ॥ ३. पुरुष इति A ॥ ४. “वार्षगण्यस्यापि लक्षणमयुक्तमित्याह-श्रोत्रादिवृत्तिरिति ।”-न्या० वा० ता० पृ० १३२ । “श्रोत्रादिवृत्तिरिति वार्षगणाः” -सांख्यका० युक्तिदी० पृ० ३९ । “श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षमनुमानमनुस्मृतिः ।”-सिद्ध० द्वा० १३।५॥ ५. वर्तनाद् वृत्तिः B । तुलना-“तथा श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम्, श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-जिह्वा-घ्राणानां

विषयाकारपरिणामः प्रत्यक्षं प्रमाणमिति उच्यते ॥

अथानुमानम्-

“सम्बन्धादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानम् ।” [ ]

सम्बन्धादविनाभावलक्षणेन सम्बन्धेन लिङ्गात्, यथा धूमादग्निर-  
त्रेति ॥

“आप्तोपदेशः शब्दः” [न्या० सू० १।७] । यो यत्राभियुक्तः

मनसाधिष्ठिता वृत्तिः शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्धेषु यथाक्रमं ग्रहणे वर्तमाना प्रमाणं प्रत्यक्षमिति ।”-नयचक्रवृत्ति पृ० १०७॥

१. न्यक्षप्रं B ॥ २. उच्यते A नास्ति ॥ ३. तथा<sup>१</sup> A ॥ ४. नेदमार्यार्धं B प्रतौ । “एतेन सम्बन्धादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानम्, इति लक्षणं प्रत्युक्तम् ।” -न्यायवा० १।१।५, पृ० १६७ । “सम्प्रति साङ्ख्यीयमनुमानलक्षणं दूषयति-एतेनेति । सम्बन्धोऽविनाभावः साधनस्य साध्येन, तस्मात् प्रत्यक्षाद्... एकस्माद्... शेषस्य अनुमेयस्य सिद्धिः ।...सम्बन्ध्यत इति व्युत्पत्त्या सम्बन्धो लिङ्गम्, तेनाविना-भूताद्धेतोः प्रत्यक्षादनुमेयसिद्धिरिति”-न्यायवा० ता० पृ० १६७ । नयचक्रवृत्तौ तु ‘सम्बन्धाद्’ ‘सम्बद्धाद्’ इत्युभयविधोऽपि पाठो दृश्यते-“सम्बद्धैकदेश इति वा पाठः । यथोक्तम्-‘सम्बद्धादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानम् ।’ सम्बद्धानां भावानां स्वस्वाभिभावेन वा इत्यादिना सप्तविधेन कश्चिदर्थः कस्यचिदिन्द्रियस्य प्रत्यक्षो भवति तस्मादिदानीमिन्द्रियप्रत्यक्षाच्छेषस्याप्रत्यक्षस्यार्थस्य या सिद्धिरनुमानं तत्, यथा धूमदर्शनादग्निरिति ज्ञानम् ।”-नयचक्रवृत्ति पृ० २४० ।

“सम्बन्धादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानम् ।...यथायोगं स्व-स्वामि-निमित्त-नैमित्तिकादिषु तेन तेन सम्बन्धेन सम्बन्धात् प्रत्यक्षादिति प्रत्यक्षस्य धर्मादुपलब्धात् प्रसिद्धादिति यावत् । तत्रैको यः प्रत्यक्षः स पक्षधर्मः शेषोऽनुमेयः, ....प्रत्यक्षवत् प्रत्यक्षः प्रसिद्धः, तस्मात् प्रसिद्धत्वात् सम्बन्धी पक्षधर्मोऽश्वः स्वम्, तस्य पक्षधर्मस्य सम्बन्धात् प्रागुपलब्धादनुस्मर्यमाणाच्छेषेण शेषस्य चैत्रस्य सिद्धिरिति ।”-नयचक्रवृत्ति पृ० ६८८ ॥ ५. “प्रत्यक्षादीन्यपि च तन्त्रान्तरेषूपदिश्यन्ते-‘श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम् । सम्बन्धादेकस्माच्छेषसिद्धि-रनुमानम् । यो यत्राभियुक्तः कर्मणि चादुष्टः स तत्राप्तः, तस्योपदेश आप्तवचनम्’ इति”-सांख्यका० युक्तिदी० पृ० ४ ।

कर्मणि चादुष्टः स तत्राप्तः । तेन य उपदेशः क्रियते तद्यथा  
'स्वर्गेऽप्सरसः, उत्तरः कुरवः' स आप्तोपदेशः । एवमेतानि त्रीण्येव  
प्रमाणानि शेषप्रमाणानामत्रैवान्तर्भावात् ।

इति साङ्ख्यसिद्धान्तः समाप्तः ।

### [ बौद्धदर्शनम् ]

अथ बौद्धमतप्रदर्शनायेदमपदिश्यते । तत्र हि पदार्था द्वादशाऽऽ-  
यतनानि । तद्यथा-चक्षुरिन्द्रियायतनं रसेन्द्रियायतनं घ्राण-स्पर्श-श्रवण-  
मनआयतनं रूपायतनं रसायतनं गन्धायतनं स्पर्शायतनं शब्दायतनं  
धर्मायतनम् । धर्माश्च सुखादयः ।

आह-कः पुनरेषां परिच्छेदहेतुः ? प्रमाणम् । \*तद् द्विधा-  
“प्रत्यक्षमनुमानं च । तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्” [न्यायबिन्दु  
१३, ४] कल्पना नाम-जात्यादियोजना । तत्र नामकल्पना डित्थ इति ।  
जातिकल्पना गौरिति । गुणकल्पना शुक्ल इति । क्रियाकल्पना पाचकः  
पाठक इति । द्रव्यकल्पना दण्डी विषाणीति । अनया कल्पनया रहितं  
प्रत्यक्षं प्रमाणमित्युच्यते ।

अथानुमानम्- त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानम् । रूपत्रयं च

१. शेषाणाम् A ॥ २. सांख्यमतं समाप्तम् B ॥ ३. बुद्धं A ॥ ४.  
°नायैवमाह तत्र B ॥ ५. “पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम् ।  
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि च ॥८॥”-षड्द० स० । एतान्येव द्वादशायतनानि  
अभिधर्मकोशेऽपि ॥ ६. “धर्माः सुख-दुःखादयः, तेषामायतनं गृहं  
शरीरमित्यर्थः”-षड्द० स० बृहद्भूति पृ० १३ A ॥ ★ तच्च B ॥  
७. °जात्यादिकल्पना B । “अपरे तु मन्यन्ते-प्रत्यक्षं कल्पनापोढमिति । अथ  
केयं कल्पना ? नामजात्यादियोजनेति ।”-न्यायवा० १११४। पृ० १३० ।  
विस्तरार्थं दृश्यताम्- प्र० समु० १३। तत्त्वसं० पं० पृ० ३६९ । न्यायवा० ता०  
पृ० १३० । नयचक्रवृत्ति पृ० ५२-६० ॥

पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षे चासत्त्वमेवेति । अस्मात् त्रिरूपाल्लिङ्गा-  
न्निश्चिताल्लिङ्गिनि साध्यधर्मविशिष्टे धर्मिणि ज्ञानमनुमानम् । इत्येवं द्वे एव  
प्रमाणे, शेषप्रमाणानामत्रैवान्तर्भावात् ।

इति सुगतसिद्धान्तः समाप्तः ॥

### [ मीमांसकदर्शनम् ]

मीमांसकसिद्धान्ते वेदपाठानन्तरं धर्मजिज्ञासा कर्तव्या । यतश्चैवं  
ततस्तस्य निमित्तपरीक्षा । निमित्तं च चोदना । यत उक्तम्-  
“चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः” [जै० सू० १।१।२] । चोदना च क्रियायाः  
प्रवर्तकं वचनमाहुः, यथा ‘अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः’ इत्यादि । तेन  
धर्मो लक्ष्यते, न पुनः प्रत्यक्षादिना ।

आह-कथं प्रत्यक्षमनिमित्तम् ? यतस्तदेवंविधम्-“सत्सम्प्रयोगे  
पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोप-  
लम्भकत्वात्” [जै० सू० १।१।४] । तथा अनुमानमप्यनिमित्तम्,  
प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् तस्येति । तथा उपमानमप्यनिमित्तमेव ।

यतस्तस्य गो-गवयसादृश्यग्रहणे सति गौरैव प्रमेयः । तथा  
अर्थापत्तिरपि, सा च द्विधा-श्रवणाद् दर्शनाच्च । श्रवणाद् यथा पीनो

१. °सत्त्वमेवेत्येतस्मात् B ॥ २. °ङ्गाज्ञाननिश्चिताल्लिङ्गिनि A ॥  
°ङ्गान्निश्चितं लिङ्गिनि B ॥ ३. साध्य° B नास्ति ॥ ४. सुगतमतं समाप्तम् B ॥  
५. °सिद्धान्ते B ॥ ६. “तस्य निमित्तपरीष्टिः-” जै० सू० १।१।३ ॥ ७. च  
B नास्ति ॥ ८. यतश्चोक्तम् B ॥ ९. °क्षणो धर्मः A ॥ १०. “चोदनेति  
क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः”-शाबरभाष्य १।१।२॥ ११. °मित्तं च विद्य° A  
॥ १२. °लम्भत्वात् A । “लम्भनत्वात्” इति मुद्रिते जैमिनिसूत्रे ॥ १३.  
गौरिव गवयः प्रमेयः B । अत्रेदं ध्येयम् । ‘गौरिव गवयः’ इत्युपमानं  
नैयायिकानां शोभते । मीमांसकग्रन्थेषु ‘एतेन (गवयेन) सदृशो गौः’ इत्येव  
उपमानस्वरूपं वर्णितं सर्वत्र शाबरभाष्य-मीमांसाश्लोकवार्तिकदिषु । एवमेव  
चानूदितमन्यैरपि-“जैमिनीयास्तु अन्यथोपमानस्वरूपं वर्णयन्ति । यदा श्रुतातिदेश-



देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते, अर्थादापन्नम्-रात्रौ भुङ्क्ते । अस्याश्च रात्रिभोजन-वाक्यमेव प्रमेयमिति । दर्शनाद् यथा भस्मादिविकार-मुपलभ्य दाहशक्तिर्वहेः प्रमीयते । तथा अपराण्यपि उदाहरणानि शास्त्रादुत्प्रेक्ष्य वक्तव्यानि । अभावोऽप्यनिमित्तम्, अभावविषयत्वात् । तस्माच्चोदनालक्षण एव धर्मो नान्यलक्षण इति स्थितम् । तथा वर्णानामेव वाचकत्वम्-अर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वम् । तच्च बाह्य एवार्थं, नान्यत्र । (यत उक्तम्-“गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः”

वाक्यस्य वने गवयपिण्डदर्शनानन्तरं नगरं गतं गोपिण्डमनुस्मरतः ‘एतेन सदृशो गौः’ इति ज्ञानं तदुपमानम् । तस्य विषयः सम्प्रत्यवगम्यमानगवयसादृश्यविशिष्टः परोक्षो गौः तद्वृत्ति वा गवयसादृश्यम्”-न्यायमं० पृ० १३२ । यद्यपि न्यायावतारवृत्तौ (पृ० १९) ‘अयं तेन सदृशोऽनयोर्वा सादृश्यम्’ इति वर्णितमुपमानस्वरूपम्, तत्र साम्प्रत्याय च संवादितः “तस्माद् यद् दृश्यते तत् स्यात् सादृश्येन समन्वितम् । प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ॥” इति श्लोकः, किन्तु मीमांसकानामेवेदं मतमिति आहत्य वक्तुं न पार्यते, यतोऽयं श्लोकः मीमांसश्लोकवार्तिके “तस्माद् यत् स्मर्यते तत् स्यात्...” ॥ [मी० श्लो० वा० उपमान० ३७ A] इति पाठभेदेनैवोपलभ्यते तथैव च व्याख्यातोऽपि व्याख्यातृभिः, यत् “प्रसिद्धार्थस्य साधर्म्यादप्रसिद्धस्य साधनम् ॥७४॥” इत्यभिहितं षड्दर्शनसमुच्चये हरिभद्रसूरिपादैः तत्तु केनचिदप्यभिप्रायविशेषेण संगमनीयम् । यतस्त एव हरिभद्रसूरिपादाः शास्त्रवार्तासमुच्चयस्वोपज्ञवृत्तावित्थमभिदधिरे- “नैवोपमानेनापि गम्यते सर्वज्ञः, तस्य सादृश्यविषयत्वात् ‘अनेन दृश्यमानेन पदार्थेन सदृशस्तदीयो गौः’ इति प्रवृत्तेः ।” पृ० ८० A ॥

१. अत्र रात्रिं A ॥ २. जनमेव B । “पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्येव-मादिवचःश्रुतौ । रात्रिभोजनविज्ञानं श्रुतार्थापत्तिरुच्यते ॥५१॥ तामर्थविषयां केचिदपरे शब्दगोचराम् । कल्पयन्ति... ॥५२॥” इत्युक्त्वा अन्ते वाक्यविषयत्वं प्रसाधितं मीमांसाश्लोकवार्तिके कुमारिलेन । “पीनत्वे सति दिवा भोजनप्रतिषेधस्य आत्मलाभो रात्रिवाक्यं नोपपद्यते इति श्रुतार्थापत्तेः प्रमाणविषयत्वेन दृष्टार्थापत्तेर्वैलक्षण्यम्” ।-मी० श्लो० वा० भट्टोम्बेकवृत्ति पृ० ४०४ ॥ ३. प्रमेयम् B ॥ ४. ‘र्वह्नौ A । “तत्र प्रत्यक्षतो ज्ञाताद्दाहादहनशक्तता । वह्ने...॥३०॥”-मी० श्लो० वा० अर्था० ॥ ५. इति गवानुवेशः A । इति ताल्वाद्यनुकर्ष B । “अथ गौः इत्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः ।”-शाबरभाष्य ॥

[शाबरभाष्य, १।१।५. पृ० ४५] । वायोश्च वक्त्रा प्रेरितस्य श्रोतुः श्रोत्रदेशं प्राप्तस्य ये संयोगविभागास्तेऽभिव्यञ्जका गकारादिवर्णानाम् । ते चाभिव्यक्ता एव वाचकाः, नान्यथा । नित्यश्च शब्दार्थयोः सम्बन्धः । न च मीमांसकानां वर्णव्यतिरिक्ते पद-वाक्ये स्तः, तेष्वेव पद-वाक्योपचारात् ॥)

इति मीमांसकसिद्धान्तः समाप्तः ॥

### [ लोकायतिकमतम् ]

बृहस्पतिमतानुसारिविहितप्रमाणप्रमेयस्वरूपनिरूपणाय समासेने-  
दमाह । तत्र च प्रमेयनिरूपणायाह-“पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि”  
[बृह० सू०] । आह-तत्त्वान्तरमप्यस्ति शरीरेन्द्रियादि । न तत्त्वान्तरम्,  
यतः “तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा” [बृह० सू०] । शरीरं  
भूतसमुदायः तथेन्द्रियाणि विषयाश्चेति । तस्माच्चत्वार्येव तत्त्वानि । ज्ञानं  
तत्त्वान्तरमिति चेत्, तदपि न, यत आह-“तेभ्यश्चैतन्यम्” [बृह० सू०],  
तद्धर्म एवेत्यर्थः, मद्याङ्गानां मदशक्तिवत् । ननु चात्मा

१. चाभिव्यञ्जका एव न वाचका B । “अभिघातेन हि प्रेरिता वायवः  
स्तिमितानि वाय्वन्तराणि प्रतिबाधमानाः सर्वतोदिक्कान् संयोगविभागानुत्पद्यन्ति  
यावद्वेगमभिप्रतिष्ठन्ते ।”-शाबरभाष्य १।१।३ ॥ २. नित्यः शब्दा° A ॥ ३.  
°कमतस्य दिक्प्रदर्शनमिति B ॥ ४. °रूपप्रदर्शनाय B ॥ ५. तत्र प्रमेय-  
निरूपणार्थमाह B ॥ ६. “ननु यद्युपप्लवस्तत्त्वानां किमापा... अथातस्तत्त्वं  
व्याख्यास्यामः । पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि । तत्समुदायेषु शरीरेन्द्रिय-  
विषयसंज्ञा”-तत्त्वोप० सिंह पृ० १। “पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि ।  
तत्समुदायेषु शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा”-धर्मसं० वृ० पृ० २५ A ७२ B । “यदुवाच  
वाचस्पतिः-“पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञाः,  
तेभ्यश्चैतन्यम्’ इति”-षड्द० वृ० पृ० १२४ । स्या० २० पृ० १०८५ ॥ ७.  
°दिकं तत्त्वान्तरं यतस्तन्न तत्समु° B ॥ ८. “अत्र...लोकायतिकाः...  
‘तेभ्यश्चैतन्यम्, मदशक्तिवद् विज्ञानम्, चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः’ इति चाहुः ।”  
-ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य ३।३।५३॥

तत्त्वान्तरम्, तदप्यसम्बद्धमेव, यत आह सूत्रकारः-“जलबुद्बुद-  
वज्जीवाः” [बृह० सू०], तथा “चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः”  
[बृह० सू०] । ननु च पुरुषार्थः कश्चित् तत्त्वान्तरं भविष्यति ।  
तन्निवृत्त्यर्थमाह-“प्रवृत्तिनिवृत्तिसाध्या प्रीतिः पुरुषार्थः” [बृह० सू०]  
स च “काम एव” [बृह० सू०], नान्यो मोक्षादिः । ननु चान्य एव  
कश्चिद् बुद्ध्याधारः पुरुषो भविष्यति । दृष्टहान्यदृष्टकल्पनासम्भवा-  
नान्यः । तस्मात् स्थितमेतत्-‘चत्वार्येव तत्त्वानि’ ।

(अथ प्रमाणम् । तस्य सामान्यलक्षणम्-अनधिगतार्थपरिच्छित्तिः  
प्रमाणम् । उपायो वा सन्निकर्षेन्द्रियार्थादि । “सन्निहिततदर्थे  
यथार्थविज्ञानं प्रत्यक्षम्” [बृह० सू०] । प्रत्यक्षस्येदं लक्षणम् । तन्मते  
“प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम्” [बृह० सू०] । ननु चोक्तम्-“असन्निहितार्थ-  
मनुमानम्” [बृह० सू०] । तच्च परमतानुसारेण न स्वमतापेक्षयेति  
स्थितमिति लोकायतानां संक्षेपतः प्रमाणप्रमेयस्वरूपम् ॥

\*इति लोकायतराद्धान्तः समाप्तः ।

सर्वसिद्धान्तप्रवेशकः समाप्तः ।

नैयायिक-वैशेषिक-जैन-साङ्ख्य-बौद्ध-मीमांसक-लोका-  
यतिकमतानि सङ्क्षेपतः समाप्तानि ।

१. धर्मसं० वृ० पृ० २७ A । षड्द० वृ० ॥ २. शास्त्रवा० स्वो० पृ०  
५ B । षड्द० वृ० ॥ ३. “साध्या वृत्तिनिवृत्तिभ्यां या प्रीतिर्जायते जने । निरर्था  
सा मता तेषां धर्मः कामात् परो न हि ॥८६॥”-षड्द० ॥ ४. “तत्त्वसंख्या न  
युज्यते चत्वार्येव तत्त्वानि इति ।”-शास्त्रवा० स्वो० पृ० ८ A । “चत्वार्येव  
पृथिव्यादीनि तत्त्वानि” इति तत्त्वनियमसंख्याव्याघातप्रसङ्गः ।”-धर्मसं० वृ० पृ०  
३७ B ॥ ५. “यदि सन्निहितोर्थः यथा विज्ञानं A ॥ ६. प्रत्यक्षम् B मध्ये  
नास्ति ॥ ७. “प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम्” इति वचनात्”-धर्मसं० वृ० पृ० ६५ B ।  
“प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं नान्यत्” इति वचनात्”-धर्मसं० वृ० पृ० ३७ B -६३  
A ॥ ८. चोक्तं परार्थमनुमानम् A ॥ ९. “स्वरूपं समाप्तमिति B ॥ १२.

★★ एतच्चिद्धान्तर्गतः पाठः B मध्ये नास्ति ॥

# सर्वसिद्धान्त प्रवेशक

समग्र विश्व के स्वरूप के विज्ञाता जिनेश्वर परमात्मा को नमस्कार करके सभी सिद्धान्तों (सभी दर्शनों) में जो भी उनको मान्य तत्वों का स्वरूप है, उसे मैं यहाँ कहता हूँ :-

सभी दर्शनों में प्रमाण (ज्ञान), प्रमेय (ज्ञेय) आदि के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए यह विवेचन किया जा रहा है —

## न्यायदर्शन —

नैयायिक दर्शन में 1 प्रमाण, 2 प्रमेय, 3 संशय, 4 प्रयोजन, 5 दृष्टान्त, 6 सिद्धान्त, 7 अवयव, 8 तर्क, 9 निर्णय, 10 वाद, 11 जल्प, 12 वितण्डा, 13 हेत्वाभास, 14 छल, 15 जाति और 16 निग्रहस्थान — इन सोलह पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को जानने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसा माना गया है। (न्यायसूत्र 1/1/1)

1. **प्रमाण** :- जिसके द्वारा (वस्तु तत्व को) जाना जाता है, उसे प्रमाण कहते हैं। उसका सामान्य लक्षण है — अर्थ की उपलब्धि का हेतु, अर्थात् वस्तु के स्वरूप का ज्ञान ही प्रमाण है। यह ज्ञान हानादिबुद्धि रूप है अर्थात् हेय, ज्ञेय और उपादेय का ज्ञान कराता है। इसके चार प्रकार हैं — जो इस प्रकार हैं :- 1 प्रत्यक्ष, 2 अनुमान, 3 उपमान तथा 4 शब्द प्रमाण।

न्याय दर्शन में इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। जो अव्यपदेश, अव्यभिचारी एवं व्यवसायात्मक होता है। इसका अनुक्रम इस प्रकार है — घ्राण आदि इन्द्रियाँ, घट आदि (पंचभूत रूप) पदार्थ, पदार्थ से इन्द्रियाँ का सन्निकर्ष होना अर्थात् उनका सम्बन्धित होना, उससे उत्पन्न ज्ञान (बोध), जो शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है। यहाँ प्रत्यक्ष को अव्यपदेश्य मानकर सांख्य मत का खंडन किया गया है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष को व्यपदेश्य मानता है। पुनः ज्ञान का ग्रहण होता है, ऐसा मानने से ज्ञान और आत्मा अलग-अलग सिद्ध हुए। जिस प्रकार ज्ञान की प्राप्ति होने से वह आत्मा का स्वरूप लक्षण नहीं होता है, वैसे ही सुख की भी प्राप्ति होने से वह भी आत्मा का स्वरूप लक्षण नहीं है, अतः (उस प्रकार की अनुभूति से उत्पन्न) सुख आदि भी आत्मा से भिन्न हुए। जो ज्ञान शब्दों के द्वारा कहा जा सकता है वह व्यपदेश्य होता है तथा जो

कहा नहीं जा सके, वह अव्यपदेश्य होता है। ज्ञान व्यभिचारी (विकल्पात्मक) भी होता है और अव्यभिचारी (निर्विकल्प) भी होता है। साथ ही वह व्यर्वसायात्मक अर्थात् निश्चयात्मक भी होता है, इसके द्वारा संशयात्मक ज्ञान आदि की प्रमाणरूपता का खण्डन (विच्छेद) हो जाता है। इस प्रकार ये प्रत्यक्ष ज्ञान के लक्षण बताए गए हैं।

**अनुमान** – प्रत्यक्षपूर्वक तीन प्रकार का अनुमान ज्ञान होता है, पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। त्रिविध लिंग (हेतु या साधन) की अपेक्षा से अनुमान के भी ये तीन भेद होते हैं :-

**पूर्ववत् अनुमान** – इसमें कारण से कार्य का अनुमान किया जाता है। जैसे घने बादल देखकर हम यह अनुमान करते हैं कि वर्षा होगी।

**शेषवत् अनुमान** – इसमें कार्य से कारण का अनुमान किया जाता है, जैसे नदी जल से भरी हुई है, प्रवाह तेज है, इससे हमें यह अनुमान होता है कि, ऊपर कहीं वर्षा हुई होगी।

**सामान्यतोदृष्ट** – देवदत्त आदि किसी व्यक्ति के द्वारा सूर्य प्रातःकाल पूर्व दिशा में तथा सायंकाल पश्चिम दिशा में देखा गया। इससे यह अनुमान किया जाता है कि सूर्य गतिमान है।

**उपमानप्रमाण** – प्रसिद्ध वस्तु विशेष के सादृश्यता रूप साधन के ज्ञान से साध्य का ज्ञान उपमान प्रमाण कहलाता है। जैसे प्रसिद्ध गाय की समानता वाले साधन अर्थात् सींग, फटे खुर आदि से साध्य 'गवय' का ज्ञान करना उपमान प्रमाण कहलाता है, अर्थात् जैसी गाय वैसी गवय।

पुनः इस उपमान प्रमाण के द्वारा ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाता है ? इसका उत्तर है, उपमान प्रमाण से ज्ञान प्राप्त करने के लिये संज्ञा और संज्ञी के बीच सम्बन्ध का ज्ञान आवश्यक है।

**शब्दप्रमाण** – किसके शब्द (वचन) प्रमाण हैं ? इसका उत्तर है, आप्त द्वारा कथित शब्द ही प्रमाण हैं। आप्त निश्चित ही साक्षात्कृतधर्मा होता है, अर्थात् जिसने सुदृढ़ प्रमाणों के आधार पर अर्थ का निश्चय कर लिया हो, ऐसे व्यक्ति द्वारा जो कथन किया जाता है, वह आप्तोपदेश रूप कथन आगम या शब्द प्रमाण कहलाता है।

2. **प्रमेय** :- पुनः यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि इस शब्द प्रमाण के द्वारा जिज्ञासु को कौन से प्रमेयों का ज्ञान होता है, तो कहते हैं कि शब्द प्रमाण से आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुख, अपवर्ग आदि प्रमेयों का ज्ञान होता है।

3. **संशय** :- किसी निश्चित अवधारणा का न होना संशय कहलाता है। वह इस प्रकार है - मन्दप्रकाश में भूमि पर उर्ध्व स्थित वस्तु को देखकर यह टूट है या पुरुष, ऐसा ज्ञान संशय कहा जाता है।

4. **प्रयोजन** :- जिसके कारण से कोई भी प्रवृत्ति की जाती है, वह प्रयोजन कहलाता है।

5. **दृष्टान्त** :- किसी मत के प्रतिपादन के लिए दिया गया उदाहरण जैसे वस्तु की अनित्यता के लिए घट का और नित्यता के लिए आकाश का उदाहरण देना दृष्टान्त है।

6. **सिद्धान्त** :- सिद्धान्त चार प्रकार के हैं - (1) स्वतन्त्र सिद्धान्त (2) प्रतितन्त्र सिद्धान्त (3) अधिकरण सिद्धान्त और (4) अभ्युपगम सिद्धान्त।

7. **अवयव** :- प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन - ये अनुमान के पाँच अवयव हैं। जैसे -

शब्द अनित्य है - प्रतिज्ञा

क्योंकि वह उत्पन्न हुआ है - हेतु

घट के समान - उदाहरण

जो उत्पत्तिधर्मक होता है वह अनित्य होता है, जैसे - घट (यहाँ व्याप्ति दृष्टान्त का अनुगमन करती है)

इसी प्रकार शब्द भी उत्पत्तिधर्मक है - उपनय

उत्पत्तिधर्मक होने से शब्द अनित्य है - निगमन

यहाँ विपरीत धर्म का भी उदाहरण दिया जा सकता है। जैसे जो नित्य होता है, वह उत्पत्तिधर्मक भी नहीं होता है, जैसे- आकाश; शब्द अनुत्पत्तिधर्मक नहीं है, अतः उत्पत्तिधर्मक होने से शब्द अनित्य है।

8. **तर्क** :- संशय से रहित होकर कथन करना तर्क है, यथा – स्थिर होने से यह पुरुष नहीं, दूँठ ही है।
9. **निर्णय** :- संशय एवं तर्क से परे जो निश्चित ज्ञान है, वह निर्णय कहलाता है।
10. **वाद** :- वाद कथा तीन प्रकार की है – वाद, जल्प और वितण्डा।
11. **जल्प** :- वाद को जीतने की अभिलाषा से छल, जाति, निग्रह स्थान आदि का सहारा लेना जल्प कहलाता है।
12. **वितण्डा** :- किसी भी प्रकार से स्वपक्ष की स्थापना करना वितण्डा है।
13. **हेत्वाभास** :- अनैकान्तिक आदि हेत्वाभास है।
14. **छल** :- कही हुई बात का अर्थ बदलकर उसमें दोष का संकेत करना छल कहलाता है।
15. **जाति** :- समानता और असमानता के आधार पर दिखाया गया दोष 'जाति' कहलाता है।
16. **निग्रहस्थान** :- जहाँ वादी अथवा प्रतिवादी को पराजय स्वीकार करने के लिए विवश कर दिया जाता है, वह निग्रह स्थान है। निग्रह स्थान बाईस प्रकार के हैं जो इस प्रकार हैं :-
- (1) प्रतिज्ञा हानि (प्रतिदृष्टान्त के धर्म (हेतु) को अपने दृष्टान्त में स्वीकार कर लेना।) (2) प्रतिज्ञान्तर (3) प्रतिज्ञा विरोध (4) प्रतिज्ञा संन्यास (जब वादी साधन-दोष के निवारण में समर्थ न होने पर अपनी प्रतिज्ञा से च्युत हो जाये।) (5) हेत्वान्तर (6) अर्थान्तर (7) निरर्थक (8) अविज्ञातार्थ (9) अपार्थक (10) आप्राप्तकाल (11) न्यून (12) अधिक (13) पुनरुक्त (14) अनुभाषण (15) अज्ञान (16) प्रतिभा (17) विक्षेप (18) मतानुज्ञा (19) पर्यनुयोज्योपेक्षण (20) निरनुयोज्यानुयोग (21) अपसिद्धान्त और (22) हेत्वाभास।

इति न्याय दर्शन

## वैशेषिक दर्शन -

संक्षेप में वैशेषिक दर्शन में यह कहा गया है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय— इन छह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

वैशेषिकसूत्र के अनुसार - पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, तथा मन - ये नौ द्रव्य माने हैं।

**पृथिवी** - पृथ्वीतत्त्व के योग से पृथ्वी होती है। वह दो प्रकार की है - नित्य और अनित्य। परमाणु की अपेक्षा से पृथ्वी नित्य है, तथा परमाणुओं के अपने कार्यों की अपेक्षा से अर्थात् अनेक भौतिक पदार्थों की अपेक्षा से पृथ्वी अनित्य है। वह चौदह प्रकार के गुणों से युक्त है। वे इस प्रकार हैं :- रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रव्यत्व और वेग।

**अप्** - अप्तत्त्व के योग से अप् अर्थात् पानी होता है। रूप, रस, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, स्वाभाविक द्रव्यत्व, स्नेह (द्रव) और वेग - ये इसके स्वाभाविक गुण हैं। उसका वर्ण शुक्ल, रस मधुर एवं स्पर्श शीतल होता है।

**तेज** - तेज तत्त्व के सम्बन्ध से तेज अर्थात् अग्नि होती है। वह रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, नैमित्तिक, द्रव्यत्व और वेग - अग्नितत्त्व इन ग्यारह गुणों से युक्त है। उसका वर्ण शुक्ल और भास्वर एवं स्पर्श उष्ण होता है।

**वायु** - वायु तत्त्व के संबंध से वायु उत्पन्न होती है। वह स्वाभावतः न उष्ण और न शीत स्पर्श वाली होती है। वह अनुष्ण—अशीत, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व एवं वेग - इन नौ गुणों से युक्त है। धृति, कम्पादि उसके लिंग अर्थात् चिन्ह है, इसी प्रकार शब्द भी उसका लिंग या चिन्ह है। वह गन्ध और स्पर्श गुण वाली है।

**आकाश** - यह इसका पारिभाषिक नाम है। वह एक है। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग और शब्द इन छह गुणों वाला है। इसका लिंग शब्द है।



**काल** — पर, अपर, व्यतिकर, योगपद्य, अयोगपद्य, चिर और क्षिप्र — ये इसके लिंग हैं। वह संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग — इन पाँच गुणों वाला है।

**दिक्** — यहाँ, वहाँ, आदि दिक् अर्थात् दिशा के लिंग है। वे इस प्रकार हैं :- यह वायु पूर्व से आती है, वह वायु उत्तर से आती है आदि। संख्या परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग — ये उसके पाँच गुण हैं। यही इसकी संज्ञा और परिभाषा है।

**आत्मा** — आत्मतत्त्व के आधार पर आत्मा है। वह चौदह गुणों वाली है। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रत्ययलिंग, धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग — ये आत्मा के चौदह गुण हैं।

**मन** — मनस्त्व के आधार से मन की सत्ता है। ज्ञानोत्पत्ति का क्रम संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और वेग — ये उसके आठ गुण हैं।

### इति द्रव्य पदार्थ ।

**गुण** — रूप, रस, गन्ध और स्पर्श — ये विशेष गुण हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, वियोग, परत्व और अपरत्व — ये सामान्य गुण कहे गये हैं। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार — ये आत्मा के गुण हैं। गुरुत्व — पृथिवी और पानी का गुण है। द्रव्यत्व — पृथिवी, पानी और अग्नि में होता है। स्नेह — पानी का ही गुण है। वेग को संस्कार कहा गया है, जो मूर्त द्रव्यों में ही होता है। आकाश का गुण शब्द है।

गुणत्व के आधार पर गुण कहे जाते हैं, वे विशेष और सामान्य ऐसे दो प्रकार के होते हैं। रूपत्व के योग से रूप, रसत्व के योग से रसादि गुण होते हैं।

### इति गुण पदार्थ

**कर्म** — क्रिया को कर्म कहते हैं। कर्म पाँच प्रकार के हैं — (1) उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना) (2) अपक्षेपण (नीचे फेंकना) (3) आकुंचन (सिकुड़ना) (4) प्रसारण (फैलाना) और (5) गमन। गमन में भ्रमण, स्पन्दन, नमन, उठना, अवरोध आदि क्रियाएं समाहित हैं।

**इति कर्म पदार्थ**

**सामान्य** – दो प्रकार के हैं पर और अपर। द्रव्य, गुण पर्याय में जो सत्त्व है, वह सत्ता ही पर सामान्य है। सत् अनुवृत्ति (भिन्न-भिन्न वस्तुओं की एकाकार प्रतीति) का हेतु होने से यह सामान्य ही है। अतः कहा गया है कि, द्रव्य गुण पर्याय में जो व्यापक सत् है, वह सत्-सत्ता 'अपर-सामान्य' है, उसी प्रकार द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व अपर सामान्य हैं, जैसे द्रव्यों में द्रव्यत्व, गुणों में गुणत्व एवं कर्मों में कर्मत्व अपर सामान्य है।

### इति सामान्य पदार्थ

**विशेष** – नित्य द्रव्यों में रहने वाला अंतिम धर्म 'विशेष' कहलाता है। नित्य द्रव्य चार प्रकार के हैं। परमाणु, मुक्तात्मा और मुक्तमन – ये अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा व्यक्त नहीं होने कारण विशेष हैं।

### इति विशेष पदार्थ

**समवाय** – अयुत सिद्धान्त के आन्तरिक एवं आधारभूत संबंध (कार्यकारण संबंध) को समवाय कहते हैं।

### इति समवाय पदार्थ

अब वैशेषिक सिद्धान्त में प्रमाण के विषय में जो कहा गया है, उसे बताते हैं – लैंगिक अर्थात् अनुमान और प्रत्यक्ष— ये दो प्रमाण हैं, शेष सभी प्रमाण उसके अन्तर्गत आ जाते हैं।

लैंगिक (अनुमान) प्रमाण के स्वरूप को बताते हुए कहते हैं – यह इसका कार्य है, यह इसका कारण है – ऐसे एकार्थक, समवायी या विरोधी संबंध का ज्ञान कराने वाला लैंगिक प्रमाण अर्थात् अनुमान प्रमाण है। यह इसका कार्य है जैसे नदी का पूर वृष्टि का कार्य है। यह इसका कारण है, जैसे मेघोन्नति के कारण वृष्टि हुई। संबंध दो प्रकार के होते हैं, – संयोग संबंध और समवाय संबंध।

संयोग संबंध – जैसे धुँए और अग्नि का।

समवाय संबंध – जैसे वस्त्र का सूत से, अथवा गाय का सींग से।

एकार्थ समवायी भी दो प्रकार के होते हैं – कार्य का कार्य से और कारण का कारण से।

कार्य का कार्य से जैसे स्पर्श का रूप से।

कारण का कारण से जैसे पाँव का हाथ से।

विरोधी संबंध चार प्रकार के हैं —

1. होने वाला कार्य नहीं हुआ, जैसे वर्षा नहीं हुई, क्योंकि हवा के संयोग से बादल बिखर गये।
2. नहीं होने वाला कार्य हुआ, जैसे वर्षा हुई, हवा और बादल के संयोग से।
3. न होने का कार्य नहीं हुआ। जैसे घट और अग्नि का संयोग न होने से (घट में) श्यामता प्रकट नहीं हुई।
4. होने का कार्य हुआ — जैसे सेतु के भंग होने से हलचल होना।

उसी प्रकार दूसरे अन्य भी लिंगों के द्वारा भी अनुमान किया जाता है। जैसे— नक्षत्रों के उदय से, जल प्रसाद आदि का ज्ञान, जैसे चन्द्र का उदय होने पर समुद्र की वृद्धि एवं कुमुदिनी का विकास आदि। ये लिंग साध्य के ज्ञान के लिए होते हैं, नियम के प्रतिपादन के लिए नहीं।

प्रत्यक्ष का लक्षण क्या है ? तो कहते हैं कि, आत्मा, इन्द्रिय, मन एवं अर्थ के सन्निकर्ष से जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष है। इसकी व्याख्या है कि आत्मा का मन के योग से, मन का इन्द्रिय के योग से तथा इन्द्रिय का अर्थ के योग से अर्थात् इन चारों के सन्निकर्ष से घट आदि रूपी पदार्थों का ज्ञान होता है, तीन के सन्निकर्ष से शब्द का और दो के सन्निकर्ष से सुख आदि का ज्ञान होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण बताये गये हैं।

### इति वैशेषिक दर्शन

#### जैन दर्शन —

अब हम यहां जैन सिद्धान्त के अनुसार प्रमाण और प्रमेय की अवधारणा का उल्लेख करते हैं। वे इस प्रकार हैं—

**प्रमेय** — जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। ये (सात) तत्त्व हैं। सुख, दुख आदि की अनुभूति तथा ज्ञानादि के लक्षणों से युक्त आत्मा जीव है। अजीव इसके विपरीत है।

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—ये (पाँच) बन्ध के हेतु हैं। मन—वचन—काया की प्रवृत्ति को योग कहते हैं। यह आश्रव रूप है। शुभ कर्म पुण्य है, इसके विपरीत पाप है। आश्रव का कार्य बन्ध है। आश्रव के विपरीत संवर है। संवर का फल निर्जरा है।

अब प्रमाण के विषय में कहते हैं —

प्रमाण तीन प्रकार है — 1. प्रत्यक्ष, 2 अनुमान, और 3 आगम

इन्द्रिय एव मन के निमित्त से होने वाले निश्चित, अव्यभिचारी और विशेष ज्ञान को लौकिक व्यवहार से प्रत्यक्ष कहा जाता है। अवधिज्ञान आदि निश्चय से प्रत्यक्ष हैं।

लिंग से लिंगी का जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अनुमान प्रमाण है। जैसे धुँए से अग्नि का ज्ञान।

तप से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, यह आगम प्रमाण है, जो प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध न होकर चक्षु आदि ज्ञान के समान निश्चित होता है वह आगम है।

## इति जैन दर्शन

### सांख्य दर्शन —

सांख्य दर्शन के स्वरूप को जानने के लिए निम्न कथन करते हैं —

विश्व के मूल आधार हैं — प्रकृति, पुरुष और उनका संयोग। सत्व, रजस् तथा तमस् गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है। प्रकृति पुरुष के संयोग से ही वैषम्य अवस्था को प्राप्त होती है। जो इस प्रकार है —

प्रकृति से महत् (बुद्धि) तत्व आविर्भूत होता है। महत् तत्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार से एक ओर निम्न ग्यारह की उत्पत्ति होती है —

पाँच ज्ञानेन्द्रियां, पाँच कर्मेन्द्रियां तथा मन।

अहंकार के तमस् अंश की अधिकता से निम्न पाँच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। वे इस प्रकार हैं —

शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र। इन तन्मात्राओं से क्रम से पाँच भूत उत्पन्न होते हैं अर्थात् शब्द तन्मात्र से

आकाश, शब्द और स्पर्श तन्मात्र से वायु, शब्द स्पर्श और रूप तन्मात्र से तेज (अग्नि), शब्द, स्पर्श रूप एवं रस तन्मात्र से जल और पाँचो तन्मात्र से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। जीवों के शरीर तथा वृक्ष आदि इन पंचभूतों के समुदाय रूप हैं।

सत्व गुण के लक्षण बताते हैं — प्रकाश, लघुता और प्रीति। ये सत्व गुण के कार्य अथवा लक्षण हैं।

शोक, ताप, भेद, स्तम्भ, उद्वेग और अपद्वेष — ये रजस् गुण के कार्य हैं।

आवरण, सादन, बीभत्स, दैन्य और गौरव — ये तमस् गुण के कार्य हैं।

सत्वगुण लघु एवं प्रकाशक है। सत्व का प्रयोजन वस्तु को प्रकाशित करना है। वह सुख स्वरूप है। रजोगुण उपष्टम्भक (उत्तेजक) अर्थात् प्रवृत्तिशील है। तमोगुण गुरु अर्थात् भारी एवं आवरणक (अवरोधक) है।

इस प्रकार स्थूल एवं सूक्ष्म रूप से प्रकृति की व्याख्या की गई है।

अब पुरुष का स्वरूप बताते हैं — पुरुष का स्वरूप चैतन्य है। अन्धे और पंगु के समान प्रकृति और पुरुष का उपभोग के लिये संयोग संबंध होता है। उपभोग और शब्द (वचन व्यवहार) आदि की उपलब्धि पुरुष के होने पर ही घटित होते हैं।

प्रश्न यह उठता है कि, पुरुष एक है अथवा अनेक हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं , अनेक है।

पुनः प्रश्न उठता है कि, पुरुष अनेक कैसे हैं ? तो कहा गया, जन्म के नियम से अर्थात् विभिन्न व्यक्तियों का जन्म अलग-अलग देश और काल में होता है। मरण के नियम से अर्थात् विभिन्न व्यक्तियों का मरण अलग-अलग देश और काल में होता है। 'करण' के नियम से अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति की इन्द्रियाँ (करण) अन्य व्यक्तियों से अलग-अलग होती हैं। साथ ही सबकी प्रवृत्ति भी अलग-अलग होने से पुरुष अनेक हैं। पुरुष को ही आत्मा कहते हैं।

अब प्रमाण के विषय में कहते हैं। प्रमाण तीन प्रकार के हैं — 1. प्रत्यक्ष, 2. अनुमान और 3. आगम।

**प्रत्यक्ष** – श्रोतेन्द्रिय आदि की प्रवृत्ति से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। श्रोत, स्पर्श, चक्षु, रसना, घ्राण आदि इन्द्रियों का शब्द आदि विषयों से सम्पर्क होने से मन के द्वारा अपने विषय का आकार ग्रहण करना ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है।

**अनुमान प्रमाण** – एक विषय के प्रत्यक्ष से उससे सम्बन्धित अन्य विषय का ज्ञान प्राप्त करना अनुमान प्रमाण है। दो वस्तुओं के बीच अविनाभाव संबंध होने से साधन (लिंग) के दर्शन से साध्य का ज्ञान होना अनुमान है, जैसे धुएँ को देखकर अग्नि का ज्ञान होना।

**शब्द प्रमाण** – आप्त पुरुष के द्वारा कहे गये शब्द प्रमाण है। जो स्वयं विषय का साक्षात् अनुभव करते हैं, तथा जो रागादि दोषों से रहित होते हैं, वे आप्त पुरुष कहे जाते हैं। उनके द्वारा दिया गया उपदेश जैसे स्वर्ग में अप्सराएँ हैं, उत्तर में कुरु है, आदि आगम वचन शब्दप्रमाण है। इस प्रकार प्रमाण तीन ही होते हैं, शेष उनके अन्तर्गत आ जाते हैं।

## इति सांख्य दर्शन

### बौद्ध दर्शन –

अब बौद्ध दर्शन के स्वरूप को जानने के लिए कथन करते हैं— बौद्धमत में पदार्थ के ज्ञान के लिए ज्ञान के बारह साधन हैं। वे इस प्रकार हैं – चक्षु, श्रोत, घ्राण, जिह्वा, शरीर, मन, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श एवं धर्म। धर्म का अर्थ है –सुख दुख आदि। इनके स्वरूप निर्धारण का अर्थात् ज्ञान का हेतु क्या है ? उत्तर में कहते हैं –प्रमाण है। वह दो प्रकार का है –प्रत्यक्ष और अनुमान।

**प्रत्यक्ष** – जो ज्ञान कल्पना से रहित और अभ्रान्त हो, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। कल्पना अर्थात् नाम, जाति आदि की योजना से रहित, जो ज्ञान है वह प्रत्यक्ष है। नाम की कल्पना से युक्त जैसे –डित्थ, जाति की कल्पना से युक्त जैसे –गाय, गुण की कल्पना से युक्त जैसे –श्वेत, क्रिया की कल्पना से युक्त जैसे पकाने वाला, पढ़ानेवाला –इन कल्पनाओं से रहित जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

**अनुमान प्रमाण** – तीन लक्षण से युक्त साधन (लिंग) के द्वारा साध्य (लिगी) का ज्ञान अनुमान प्रमाण है। वे तीन लक्षण हैं – पक्षधर्मत्व,

सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व — इन तीन लक्षण वाले लिंग से लिंगी (साध्य) के धर्म विशिष्ट का ज्ञान होना अनुमान प्रमाण है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन में दो ही प्रमाण स्वीकार किये गये हैं, शेष प्रमाण इन्हीं के अन्तर्गत हैं।

## इति बौद्ध दर्शन

### मीमांसा दर्शन —

मीमांसा दर्शन में वेद ग्रन्थों में प्रतिपादित धार्मिक कर्मकाण्ड विषयक ज्ञान की प्राप्ति को जिज्ञासा कहा गया है। उसके लिए निमित्त की परीक्षा करनी चाहिये। इसमें हेतु—निमित्त और प्रेरणा—निमित्त दोनों होना चाहिए। कहा गया है कि धर्म और वस्तु के स्वरूप को जानने के लिए प्रेरणा नामक लक्षण का होना आवश्यक है। प्रेरणा ही क्रिया की प्रवर्तक है—ऐसा कहा गया है, जैसे स्वर्ग की कामना से अग्निहोत्र करें, वेद के द्वारा ही धर्म का लक्ष्य प्राप्त होता है, प्रत्यक्ष आदि से नहीं।

पुनः कहते हैं — प्रत्यक्ष अनिमित्तक कैसे होता है ? वह इस प्रकार है — पुरुष की इन्द्रियों का वस्तु के साथ संबंध होने से पर—बुद्धि (विषयग्राही बुद्धि) का जन्म होता है, और उसी से विद्यमान वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है। इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण अनिमित्तक है। उसी प्रकार अनुमान प्रमाण भी प्रत्यक्षपूर्वक होने से अनिमित्तक है। उसी प्रकार उपमान प्रमाण भी अनिमित्तक है।

जैसे गाय और गवय की समानता का ज्ञान होने पर गवय ही प्रमेय है, जो अनिमित्तक है। उसी प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण भी होता है, वह दो प्रकार का है — श्रवण की अपेक्षा और दर्शन की अपेक्षा से। श्रवण की अपेक्षा जैसे हृष्ट—पुष्ट देवदत्त दिन में खाना नहीं खाता है, अतः वह रात्री में खाता है। यह ज्ञान अर्थापत्ति से प्राप्त होता है। यहाँ रात्री में खाता है, यह वाक्य ही प्रमेय है। दर्शन की अपेक्षा से जैसे भस्म को देखकर अग्नि की दाहशक्ति को जाना जाता है, उसी प्रकार अन्य विषय भी शास्त्र से जानकर ही कहे जाते हैं, —यही आगम प्रमाण है। अभाव प्रमाण के विषय में कहा गया है कि अभाव प्रमाण भी अनिमित्तक है। अतः यह स्पष्ट होता है कि प्रेरणा ही धर्म का लक्षण है, अन्य नहीं। उसी प्रकार वर्णों (शब्दों) का वाचकत्व हेतु अर्थप्रतिपत्ति ही

है और वह बाह्यार्थ के होने पर ही होता है, अन्यथा नहीं। गकार, औकार और विसर्ग से बने गौ शब्द के उच्चारण से गाय का बोध होता है ऐसा उपवर्ष का कथन है। जो बोलने वाला है उसके वचन से प्रेरित होकर श्रोता उनके अर्थ के संयोग और विभाग से अपने विषय का ज्ञान कर लेता है। शब्द अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले हैं, अर्थात् उनके वाचक हैं। शब्द और अर्थ का संबंध नित्य है। मीमांसक दर्शन में शब्द से भिन्न पद की और पद से भिन्न वाक्य की स्थिति नहीं है। शब्द में पद और पद में उपचार से वाक्य समाहित हैं।

### इति मीमांसा दर्शन

#### चार्वाक दर्शन -

बृहस्पति के मत के अनुसार चार्वाक दर्शन में प्रमाण और प्रमेय के स्वरूप को जानने के लिए कहा गया है - प्रमेय को स्पष्ट करने के लिए कहते हैं कि, पृथ्वी, अप, तेज और वायु ये तत्त्व हैं। शरीर, इन्द्रियाँ आदि उसके अन्तर्गत ही माने गये हैं। जिस प्रकार शरीर भूतों का समुदाय है, उसी प्रकार इन्द्रियाँ और उनके विषय भी भूतों के समूह रूप हैं। ये चार तत्त्व ही जगत का मूल उपादान हैं। ज्ञान इसके अन्तर्गत नहीं है। उसको चैतन्य कहा गया है, किन्तु वह शरीर का ही गुण है, जैसे गुड़ के सड़ जाने पर उसमें मादकता आ जाती है, उसी प्रकार शरीर का निर्माण होने पर चेतना उत्पन्न हो जाती है। निश्चय ही आत्मा शरीर से भिन्न नहीं है, अर्थात् देह ही आत्मा है। जीव पानी के बुलबुले के समान है। चैतन्य शरीर का ही विशिष्ट गुण है। चार्वाक दर्शन के अन्तर्गत पुरुषार्थ क्या है ? इसके उत्तर में कहा गया है - काम ही (एकमात्र) पुरुषार्थ है। मोक्ष आदि - पुरुषार्थ अन्य (वस्तुतः) पुरुषार्थ नहीं है। अन्य सभी पुरुषार्थ व्यक्ति ने बुद्धि के आधार पर कल्पित कर लिये हैं। परलोक, मोक्ष आदि अदृष्ट कल्पना हैं। इस प्रकार इस दर्शन में पृथ्वी आदि चार ही तत्त्व स्वीकार किये गये हैं।

अब प्रमाण के बारे में कहते हैं - प्रमाण का सामान्य लक्षण है - जो नहीं जाना गया है, उसको जानना ही प्रमाण है। इन्द्रियों के सन्निकर्ष से वस्तु के यथार्थ स्वरूप का विशिष्ट ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष का यही लक्षण है। इस मत के अनुसार प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है। पुनः यह कहा गया है कि असन्निहित अर्थ का बोध ही अनुमान है, किंतु यह अन्य मत के आधार पर माना गया है। स्वमत में



अर्थात् चार्वाक दर्शन में इसकी कोई अपेक्षा नहीं है। संक्षेप में चार्वाक दर्शन में प्रमाण प्रमेय की यही व्यवस्था है।

**इति चार्वाक दर्शन**

## Our Important Publications

1. <i>Studies in Jaina Philosophy</i>	Dr. Nathamal Tatia	200.00
2. <i>Jaina Temples of Western India</i>	Dr. Harihar Singh	300.00
3. <i>Jaina Epistemology</i>	Dr. I.C. Shastri	150.00
4. <i>Concept of Pañcaśīla in Indian Thought</i>	Dr. Kamla Jain	300.00
5. <i>Jaina Theory of Reality</i>	Dr. J.C. Sikdar	300.00
6. <i>Jaina Perspective in Philosophy &amp; Religion</i>	Dr. Ramji Singh	300.00
7. <i>Aspects of Jainology (Complete Set : Vols. 1 to 7)</i>		2500.00
8. <i>An Introduction to Jaina Sādhanā</i>	Prof. Sagarmal Jain	40.00
9. <i>Pearls of Jaina Wisdom</i>	Dulichand Jain	120.00
10. <i>Scientific contents in Prakrit Canons</i>	Dr. N.L. Jain	400.00
11. <i>Te Heritage of the Last Arhat : Mahāvira</i>	Dr. C. Krause	25.00
12. <i>The Path of Arhat</i>	T.U. Mehta	200.00
13. <i>Multi-Dimensional Application of Anekāntavāda</i>	Ed. Prof. S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey	500.00
14. <i>The World of Non-living</i>	Dr. N.L. Jain	400.00
15. <i>जैन धर्म और तान्त्रिक साधना</i>	प्रो. सागरमल जैन	350.00
16. <i>सागर जैन-विद्या भारती (पाँच खण्ड)</i>	प्रो. सागरमल जैन	500.00
17. <i>गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण</i>	प्रो. सागरमल जैन	60.00
18. <i>अहिंसा की प्रासंगिकता</i>	डॉ. सागरमल जैन	100.00
19. <i>अष्टकप्रकरण</i>	डॉ. अशोक कुमार सिंह	120.00
20. <i>दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति : एक अध्ययन</i>	डॉ. अशोक कुमार सिंह	125.00
21. <i>जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन</i>	डॉ. शिवप्रसाद	300.00
22. <i>अचलगच्छ का इतिहास</i>	डॉ. शिवप्रसाद	250.00
23. <i>तपागच्छ का इतिहास</i>	डॉ. शिवप्रसाद	500.00
24. <i>सिद्धसेन दिवाकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व</i>	डॉ. श्री प्रकाश पाण्डेय	100.00
25. <i>जैन एवं बौद्ध योग : एक तुलनात्मक अध्ययन</i>	डॉ. सुधा जैन	300.00
26. <i>जैन एवं बौद्ध शिक्षा-दर्शन एक तुलनात्मक अध्ययन</i>	डॉ. विजय कुमार	200.00
27. <i>जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (सम्पूर्ण सेट सात खण्ड)</i>		1400.00
28. <i>हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास (सम्पूर्ण सेट चार खण्ड)</i>		760.00
29. <i>जैन प्रतिमा विज्ञान</i>	डॉ. मारुति नन्दन तिवारी	300.00
30. <i>महावीर और उनके दशधर्म</i>	श्री भागचन्द्र जैन	80.00
31. <i>वज्जालग्गां (हिन्दी अनुवाद सहित)</i>	पं. विश्वनाथ पाठक	160.00
32. <i>प्राकृत हिन्दी कोश</i>	सम्पा. - डॉ. के.आर. चन्द्र	400.00
33. <i>भारतीय जीवन मूल्य</i>	प्रो. सुरेन्द्र वर्मा	75.00
34. <i>नलविलासनाटकम्</i>	सम्पा. डॉ. सुरेशचन्द्र पाण्डे	60.00
35. <i>समाधिमरण</i>	डॉ. रज्जन कुमार	260.00
36. <i>पञ्चाशक-प्रकरणम् (हिन्दी अनुवाद सहित)</i>	अनु. डॉ. दीनानाथ शर्मा	250.00
37. <i>जैन धर्म में अहिंसा</i>	डॉ. वशिष्ठ नारायण सिन्हा	300.00
38. <i>बौद्ध प्रमाण-मीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा</i>	डॉ. धर्मचन्द्र जैन	350.00
39. <i>महावीर की निर्वाणभूमि पावा : एक विमर्श</i>	भगवतीप्रसाद खेतान	150.00
40. <i>स्थानकवासी जैन परम्परा का इतिहास</i>	प्रो. सागरमल जैन एवं डॉ. विजय कुमार	500.00

**Pārśwanātha Vidyāpīṭha, Varanasi-221005 INDIA**